श्रीकृष्ण-सन्देश





श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर श्रीबसन्तकुमारजी बिरला

श्रीबसन्तकुमारजी बिरला अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सरला बिरलाके साथ मन्दिरमें चरणामृत ग्रहण करते हुए।

मन्दिरके पुजारी श्रीबिरलाजी को तिलक लगा रहे हैं।



श्रीकृष्ण-सन्देश

[धर्म, अध्यात्म एवं संस्कृति-प्रधान मासिक पत्र]

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्रीजुगलकिशोर बिरला

*

परामर्श–मण्डल

स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती — श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार 'कल्याण'-सम्पादक

डा० भुवनेश्वरनाथमिश्र 'माधव' — श्रीजनार्दन भट्ट

श्रीहितशरण शर्मा

*

प्रबन्ध-सम्पादक

श्रीदेवधर शर्मा

सम्पादक

श्रीव्यथितहृदय

★

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

*

वार्षिक शुल्क

सात रुपये

आजीवन शुल्क

एकसौ इक्यावन रुपये

वर्ष : ४] फरवरी १९६९ [अंक : ७

विषय-सूची



श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : लोकके आलोकमें

श्रीकृष्ण जन्मस्थानका जीर्णोद्धार होरहा है, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। ईश्वरकी कृपासे यह काम जल्दी हो जाये, यह प्रार्थना है। पं० देवधरजी शर्माको इसका मुख्य श्रेय है। भगवान् उन्हें सफलता दें।

वसन्तकुमार बिरला
१५, इण्डिया एक्सचेन्ज प्लेस
कलकत्ता—१।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान देखनेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

न० म० साज़ानोवा
प्राध्यापिका हिन्दी विभाग
मास्को विश्वविद्यालय।

भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमिपर हो रहा निर्माणकार्य अतिशय स्तुत्य है। प्रभुसे कामना है, इसके उद्धारक अपने कार्यमें सफल हों।

तारकनाथ भट्टाचार्य, उपग्रन्थाध्यक्ष,
चन्द्रभानु पाण्डेय, प्रधान सूचीकार
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
सरस्वती भवन, वाराणसी।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका नवीनरूप देखकर मन अति प्रसन्न हुआ। यह स्थान देश-विदेशके सभी यात्रियोंका मन सदैव मोहित करता रहेगा।

मनोहरलाल चतुर्वेदी
मुख्य सुरक्षाधिकारी,
भारत हैवी इलैक्ट्रीकल्स
हरिद्वार, जि० सहारनपुर (उ० प्र०)।

योगेश्वरस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य भगवद्गीता सन्देशोऽधुना सर्वासु दिक्ष्वभारतीयैरपि समुद्घोष्यते, स चात्र भारते कैश्चिन्न्य स्वीक्रियत इति दुःखावहम्। एतस्य महामन्दिरस्य पुनर्निर्माण योननांवीक्ष्य तावच्चेतो भवत्यानन्दगद्गदम्। सर्वेभ्योऽपि देशेभ्यो भगवद्गीता सन्देशं श्रोतुं जना इहागच्छेयुरिति कामये॥

उषर्बुधार्य :
(USHARBUDHAARYA
M.A.,D.Lit.)
Department of South Asian Languages,
UNIVERSITY of MINNESOTA
MINNEAPOLIS,
55455 U.S.A.

I always cherished an earnest desire to visit Mathura, the birth place of Lord Krishna. Fortunately a day came when by His grace I could visit it. Indeed I could say, this is something a thrilling moment in my life.

ATCHUT K. S. USGAONKAR
MINISTER OF STATE-GOA

A place that charms all who worship Lord Krishna. I was one of the fortunates to have a glimpse of this beautiful place. The people who are behind this noble task of maintaining and improving the spot deserve all praise & encouragement.

A. MITRA
Superintending Surveyer of works
2, Church Road, Delhi Cantt (10)

A magnificient effort to bring men of all races together to sing the glory of God. I felt peace pervading all round.

KANTI CHAUDHURI
Joint Secretary Govt. of India
Ministry of Education
NEW DELHI

Temple is neatly kept & the visitors treated courteously.

Prof. & Mrs. BERTRAM
F. WILLCOK
U. S. A.





श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

वर्ष ४ | मथुरा, फरवरी १९६९ | अङ्क ७

अमृत-विन्दु



यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥

अहिंसा आदि यमोंका तो आदरपूर्वक सेवन करना चाहिए, परन्तु शौच (पवित्रता) आदि नियमोंका पालन शक्तिके अनुसार और आत्मज्ञानके विरोधी न होने पर ही करना चाहिये । जिज्ञासु पुरुषके लिए यम और नियमोंके पालनसे भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरुकी, जो मेरे स्वरूपको जाननेवाले और शान्त हों, मेरा ही स्वरूप समझकर सेवा करे ।

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढ़ सौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥

शिष्यको अभिमान न करना चाहिये । वह कभी किसीसे डाह न करे–किसीका बुरा न सोचे । वह प्रत्येक कार्यमें कुशल हो—उसे आलस्य छू न जाय । उसे कहीं भी ममता न हो, गुरुके चरणोंमें दृढ़ अनुराग हो । कोई काम हड़बड़ाकर न करे—उसे सावधानीसे पूरा करे । सदा परमार्थके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा बनाये रक्खे । किसीके गुणोंमें दोष न निकाले और व्यर्थ की बात न करे ।

[श्रीमद्भागवत ११ । १० । ५–६]

'गीता' मानव-जीवनके रहस्योंकी उद्बोधिका है। जीवनके संघर्ष, द्वन्द और ऊहापोह जिस प्रकार गीता की ज्ञान-गंगामें शान्त होते हैं, उस प्रकार अन्यत्र और कहीं नहीं। गीताकी ज्ञान गंगा! लोककल्याणके लिए 'कर्म' यज्ञ है। जीवनशास्त्रके आचार्यों ने स्वानुभूत तथ्योंसे भी इसकी पुष्टिकी है।

गीता-धर्म

डा० श्रीहजारीलाल माहेश्वरी

गीतामें 'धर्म' शब्दका प्रयोग तीन व्यक्तियोंके द्वारा हुआ है, वे हैं: क्रमशः धृतराष्ट्र, अर्जुन और श्रीकृष्ण। धृतराष्ट्र और अर्जुन दोनों ही धर्मके परम्परा-बद्ध रूपको मनमें धारण किये हुए हैं। अर्जुनकी धर्म-चेतना निश्चय ही श्रेयाशंसिनी चेतना है और परम्परागत उसका 'क्षात्र-धर्म' उसे निःशंक रूपसे श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि क्षात्र-धर्म्यं युद्धसे 'कुल-नाश' और कुल-नाशसे 'जाति-धर्म-नाश' उसे अनिवार्य जैसा दिखाई पड़ता है। परिणामतः उसकी धर्म-धारणा सरल विश्वासमयी धारणा मात्र नहीं रह गयी है: वह धर्म-सम्बन्धी प्रश्नशीला श्रेय-जिज्ञासा बन गयी है।

श्रीकृष्ण शाश्वत धर्म-गोप्ता हैं और अर्जुनकी दशासे पूर्ण परिचित भी हैं। वे 'नित्यधर्म'के आगार हैं, भगवद्धर्मके उद्बोधक हैं। वही गीताके उपदेष्टा हैं। अतः श्रीकृष्ण के द्वारा 'धर्म' शब्दका प्रयुक्तार्थ ही 'गीता-धर्म'की व्याख्याके लिये सर्वग्राह्य अर्थ होगा।

गीतामें श्रीकृष्णके द्वारा 'धर्म' शब्दका प्रयोग कई प्रसंगोंमें हुआ है। उन्हीं प्रसंगोंके अनुसार 'धर्म'का विविध अभिप्रेत अर्थभी सामने आता है। संक्षेपतः उन अभिप्रायोंको निम्नप्रकारसे संजोया जा सकता है—

१. सामाजिक भूमिकामें अभिप्रेत धर्म: इसके दो रूप हो सकते हैं—

(अ) सीमित भूमिकामें वर्ग-विशेष अथवा समाज-विशेषका युग-विशेषमें अभ्यासगत धर्म, जिसे 'कुल-धर्म' इत्यादि कहा जा सकता है।

(ब) व्यापक मानव-धर्म, जो समान रूपसे समस्त मानवजातिके लिये धारण करने योग्य है।

२. वैयक्तिक जीवनमें अभिप्रेत धर्म : यहाँ धर्म प्रत्येक व्यक्तिकी अन्तःप्रकृति, उसकी क्षमता, रुचि, योग्यता, सामर्थ्य; संक्षेपतः उसके स्वभावके अनुरूप है, जिसे श्रीकृष्ण स्वधर्म कहते हैं।

३. विधानके रूपमें अभिप्रेत धर्म : इसके दो रूप सम्मुख आते हैं :—

(क) विशिष्ट विशिष्ट शास्त्र-विधानानुसार कर्म-विधान।

(ख) विश्वव्यापी नैसर्गिक नियमोंके अनुसार जीवन-सम्पादन।

४. आध्यात्मिक साधनाके रूपमें अभिप्रेत धर्म, जिसे योगकी संज्ञा दी गयी है। यहाँ धर्म न कोई बाह्य लोक-सामान्य सम्बन्धित विधान मात्र है और न केवल वैयक्तिक वैशिष्ट्य सम्बन्धित मनोगत अभिरुचिका विषय। यह बाह्याभिमुखी दृष्टिसे मुक्त होकर अन्तर्मुखी वृत्तिके द्वारा अपने मनश्चैतन्य तकको शान्त करके गहनतम आत्मिक रहस्योंमें उतरने की साधना है।

५. भागवत सत्यके रूपमें अभिप्रेत धर्म, जिसका आशय होगा परात्पर तत्त्वके साथ नित्य तादात्म्य।

'गीता'धर्म' को समझनेके लिये उपर्युक्त सभी अभिप्रायोंको क्रमशः समझनेका प्रयास करना होगा।

<u>लोक-धर्म</u>

सर्वप्रथम धर्मका परम्परानुगत अभिप्राय विवेचनीय है। समस्त मानव-समाज अनेक वर्गोंमें ग्रथित रहता आया है। विभिन्न देशोंमें, विभिन्न युगोंमें, विभिन्न मानव-समुदायोंमें अपनी-अपनी मान्यताएँ, विश्वास, भावनाएँ और आचार-संहिताएँ रही हैं। उनके सजग रूपसे समाजकी प्रगति हुई है, किन्तु अंधरूढ़िबद्धतासे स्थिरता एवं गतिरोध आया है। गीतामें श्रीकृष्ण अर्जुनके क्षात्रधर्मके अनुसार उसके सम्मुख युद्धको 'धर्म्य-संग्राम' कहते हैं और उसे सावधान करते हैं कि क्षत्रियके लिये 'धर्म्य युद्ध' से अन्य कोई श्रेय नहीं है। 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' (गीता २-३१)

स्पष्ट है कि यहाँ भारतवर्षकी आर्य जातिके चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थाका सन्दर्भ है, जिसके अनुसार क्षत्रियका धर्म शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धमें पलायन न करना, दान एवं शासन-वृत्ति है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाके अन्तर्गत ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादिके धर्म-कर्म

का जो विवेचन गीतामें देखनेको मिलता है, वह अद्भुत है। अनेक बार हम चातुर्वर्ण्यको केवल सामाजिक अर्थ-व्यवस्थाके लिये किया गया श्रम-विभाजन मात्र कह डालते हैं। यह केवल प्रमाद और असावधानीका द्योतक है। गीतामें चारों वर्णोंकी जिन वृत्तियों, गुणों एवं कार्योंका वर्णन है, वह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि मानव-जीवनके सर्वाङ्ग विकासकी योजना चातुर्वर्ण्यके सिद्धान्तमें निहित है, मात्र आर्थिक नहीं। शम,दम, शुचि, क्षमा, सरलता, ज्ञान-विज्ञान, आस्तिक्य इत्यादि ब्राह्मणके गुण एवं कर्म; शूरता, तेजादि उपयुक्त क्षत्रियके गुण एवं कर्म; कृषि, पशुपालन, वाणिज्य इत्यादि वैश्यके गुण एवं कर्म, तथा परिचर्या इत्यादि शूद्रके गुण एवं कर्म। चातुर्वर्ण्यका यह गुण-कर्म-विभाग किसी भी समाजकेलिये, किसी भी युगकेलिये कितना उपादेय है, कितना विकास-सम्पादक है, कितना मनोवैज्ञानिक है, यह देखते ही बनता है। मानव-जीवन यदि सम्मिलित जीवन है—जैसाकि वह है—तो मानवके आदर्श, उसकी क्षमताएं उसकी उपलब्धियां, उसकी व्यवस्था, उसकी श्रेय साधना इत्यादि सबका यथेष्ट सम्मिलित विधान होगा ही। वही विधान हमारे अभ्यासमें आ जाने पर 'कुल-धर्म', 'जाति-धर्म'का रूप धारण कर लेता है। समवेत जीवनमें उससे व्यवस्था आती है, दक्षता आती है और समाज आगे बढ़ता हैं। उसी सम्मिलित विधानको लोक-धर्मकी संज्ञा दी जा सकती है। गीतोक्त चातुर्वर्ण्यके सिद्धान्तको लोक-धर्मके रूपमें देखें तो उसमें मानवके सम्मिलित जीवनके प्रत्येक अंगका पोषण दिखायी पड़ेगा। आन्तर जीवनकी बौद्धिक तथा हृद्गत सम्पन्नता (ब्राह्मण), स्वस्थ सबल स्वार्थ-रहित राजनीति (क्षत्रिय), स्वावलम्वी परिपुष्ट अर्थ-व्यवस्था (वैश्य), तथा सेवारत कौशल (शूद्र), और उन सबमें ओत-प्रोत सर्वहितकी आदर्शमयी प्रेरणा किसी भी समाज अथवा राष्ट्रके लिये ऐसे सूत्र हैं, जिनसे उसका सर्वाङ्ग विकास सम्पादित हो सकता है। दुराग्रह-रहित भावनासे यह कहा जा सकता है कि चातुर्वर्ण्य वस्तुतः सार्व-भौम लोक धर्म है, किसी विशिष्ट समाजकी वह परम्परा मात्र नहीं है। इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि ऐसी वर्ण-व्यवस्था किसी जाति विशेषके प्राचीनकालके इतिहासका विषय मात्र नहीं, वह आधुनिक मानव-समाजमें भी सिद्धान्ततः प्रयोज्य रहेगी, जबतक मानवका वर्तमान स्वभाव है।

स्वधर्म

उपर्युक्त वर्ण-धर्म सार्वभौम और सार्वकालिक लोक-धर्म केवल तभी हो सकता है, जब वह ऐसे व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित हो जो किसी वर्ग विशेषकी युग युगमें बदलती हुई परिस्थितियोंके साथ आए दिन बदलते न रहते हों। दूसरे शब्दोंमें, व्यापक लोकधर्म केवल नैसर्गिक आधारोंपर ही स्थापित किया जा सकता है। गीतामें वर्णधर्म-कर्मको 'स्वधर्म' और स्वभावज कर्म कहा गया है। मानव-जीवनको गहराईसे देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि उसके सम्मिलित गठनका विस्तार समाजके रूपमें बाह्यतः विकसित होता है और उसकी विभिन्न जड़ें वैयक्तिक

जीवनकी आन्तरिक गहराइयोंमें हैं। अतः समाज-धर्म अथवा लोक-धर्मका सच्चा आधार वह प्रकृति है, जो व्यक्ति-व्यक्तिके भीतर उसका 'स्वभाव' बनकर उसे 'स्वकर्म' में नियोजित करती है। गीतामें 'स्वभाव', 'स्वकर्म' और 'स्वधर्म' को लोक-धर्मका मूलाधार माना गया है। अपने स्वाभाविक कर्मसे विचलित होते अर्जुनको श्रीकृष्ण सचेत करते हैं; "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितमर्हसि" (गीता २-३१) तथा उसे प्रकृतिस्थ करते हैं: "प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति" (गीता १८-५९)। अर्थात् अपने धर्मके नाते तुम्हें काँपना नहीं है, "तुम्हारी प्रकृति तुम्हें युद्धमें नियुक्ति कर देगी"। स्पष्ट है कि यहाँ धर्मका आधार निसर्ग है। वह सर्ग संचालिका प्राकृत शक्ति है, जो प्रत्येक मनुष्यके भीतर उसका व्यक्तित्व बनकर उसकी समस्त मनोवृत्तियों एवं प्राण-प्रवृत्तियोंको प्रेरित करती है और जो लोक-जीवनको वैयक्तिक योग्यताओं और क्षमताओंके सूत्रोंसे सँजोती है। यहाँ 'धर्म' बाहरसे लादा हुआ किसी विधान विशेपका लबादा नहीं है, अथवा किसी संस्थापकके द्वारा दी गयी कोई विश्वास-शैली, पूजा-प्रणाली, अथवा सदाचार-दुराचार सम्बन्धी नियमावलि नहीं है। वह उन सहज स्वाभाविक मनोवृत्तियोंसे प्रस्फुटित हो सकनेवाला श्रेय विकास है, जिनका विरोध करना असंभव है और जिनकी अवहेलना करना आत्मद्रोह।

मानव-जीवनका समष्टिगत सायुज्य एवं व्यष्टिगत वैशिष्ट्य दोनों नैसर्गिक हैं एवं एक ही मानव-सृष्टिके दो अंग हैं जो एक-दूसरेके पूरक हैं। आजके चिन्तनमें व्यक्तिवादी और समाजवादी दो विरोधी विचारधाराओंका द्वन्द्व हो रहा है और उसके कारण मानव-कल्याणकी कल्पनामें, उसकी योजना और प्रयासमें भी ऐसा विरोध उत्पन्न हो गया है कि लोक-जीवनमें दरारें जैसी पड़ गयी हैं। धर्मको तो प्रायः लोक-जीवनसे असम्बद्ध ही मान लिया गया है। लौकिक जीवनको धर्म-निरपेक्ष और धर्म-जीवनको लोकातीत कह देना अभ्यासमें आ गया है। कहीं कहीं तो धार्मिकता और लौकिकताको परस्पर विरोधी भी घोषित कर दिया जाता है। गीताकी भूमिकामें मानव-जीवन इस प्रकार कृत्रिम रूपसे विभक्त नहीं है। उसका सर्वाङ्ग विकास वस्तुतः संयुक्त विकास है। उसका सच्चा हित सर्वाङ्ग परिपूर्णतामें है। मानव-जीवनकी संरचनाको देखते ऐसा लगता है कि उसका समष्टिगत विशाल विकास व्यक्ति-व्यक्तिकी क्षमता पर निर्भर होगा, क्योंकि व्यक्तिही उसकी मूलभूत इकाई है। 'लोकसंग्रह' व्यक्ति-सापेक्ष है और व्यक्ति-विकास व्यक्ति-वैशिष्ट्य सापेक्ष। इस प्रकार 'सर्व-धर्म'का आधार स्वभावतः'स्वधर्म' ही होगा।

मानव-कल्याणकी इह-कालीन कल्पनामें 'मनोविज्ञान' और 'शिक्षा'को प्रमुखता मिली है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिकी निजी योग्यता और क्षमताके आधार पर उसका ऐसा समर्थ विकास कर देना अभीष्ट है जिससे वह अपने समाज और राष्ट्रका एक सुयोग्य अङ्ग बन जाय। उसके लिये प्रत्येककी विशेष मनोवृत्तियां, अर्हताएँ रुझान इत्यादि

को ढूँढ़ निकालना और उनका यथोचित समायोजन करना होता है। शिक्षा और व्यक्ति-विकासके आधारभूत सिद्धांतोंके अन्तर्गत वैयक्तिक अन्तर्योजन (पर्सनेलिटीइंटेग्रेशन) को निर्विवाद रूपसे स्वीकार किया गया है। यह वैयक्तिक अन्तर्योजन केवल मनोवृत्तियोंके यथार्थ रूपको स्वीकार कर लेने से ही संभव नहीं हो जाता, अपितु यथासंभव उनको किसी उच्च उपलब्धिके लिये सजग रूपसे नियोजित कर देनेकी अपेक्षा होती है। अतः एक ओर मनोविज्ञानकी सहायतासे व्यक्ति विशेषके स्वभावका, उसकी प्रवृत्तियों और गुणोंका परिचय करना होता है, दूसरी ओर उनके ऐसे समायोजनकी संभावनाओंको ढूँढ निकालना होता है, जिसमें किसी आदर्शके प्रति उसकी स्वाभाविक रुचि और अन्तः प्रेरणा हो। इस द्विविधि सूत्रसे संचालित होता वह आयाम, जिसे सचमुच व्यक्ति-विकासकी साधना कहा जा सके, उस साधनामें सहज वृत्तियोंकी यथार्थ स्वीकृति एवं रुचि संयुत आदर्शके प्रति अभिमुखता, दोनों का संयोग है। आधुनिक मानसोपचार शास्त्रके अनुसार भी अपने आन्तरिक स्वास्थ्य और वांछित विकासके लिये जीवनमें आदर्शों की प्रेरणाका विशेष महत्व है। गीताकी भाषामें, निज-विकासकी यह साधना, जिसमें अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंको स्वभावोचित आदर्शोंमें नियोजित किया जा सके, 'स्वधर्म' कहा गया है। 'स्वधर्म' 'स्वभावके' अनुरूप होता है और उसीसे 'स्वकर्म' का सम्पादन होता है। इन सबके केन्द्रमें है व्यक्तिका 'स्व', उसकी अन्तरात्मा। गीतोक्त 'स्वधर्म' में मानव व्यक्तित्वके उपयुक्त विकासके सभी सूत्र विद्यमान हैं। पूर्वकथित चातुर्वर्ण्यके ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादिके समस्त कर्म गीतामें स्वभावज कर्म कहे गये हैं। उनके कर्म किसी आचार संहिताके आधारपर संगठनके लिये निर्दिष्ट कर्म नहीं हैं। वे सब आंतरिक अभिरुचि, स्वाभाविक योग्यता और विशिष्ट क्षमताओंके अनुरूप कर्म हैं। स्वभावज कर्म और स्वधर्म ही वस्तुतः उस व्यापक मानव-धर्मके स्तम्भ हैं, जिसकी कल्पना चातुर्वर्ण्य की सार्वभौमिकता में निहित है।

'स्वधर्म' और स्वभावज कर्मको गीतामें इतना महत्वपूर्ण माना है कि यहाँ तक परामर्श दे दिया गया है कि दोषयुक्त भी स्वभावज कर्म त्याज्य नहीं है। "सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् (गीता १८-४८)। इसका रहस्य व्यक्तिकी अन्तर्भूत उस आत्म सत्ता में है, जिसने उसकी विशेष मनोमयी प्राण प्रकृतिको धारण किया है, उसको अपना उपयुक्त यन्त्र बनाया है और उसीके द्वारा वह आगे विकास करेगी, भले ही ऊपरी और छिछली सामाजिक दृष्टिसे उसके स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त दिखायी पड़ें। इसी प्रकार सर्वथा निस्संदिग्ध वाणीमें गीता स्वधर्मको ही श्रेष्ठ धर्म बताती है :—"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्" (गीता १८-४७)। उसकी घोषणा है कि 'स्वधर्म' में निधन भी श्रेयस्कर है, पर-धर्म भय देने वाला होता है। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, पर-धर्मो भयावहः" (गीता ३-३५)।

[शेषके लिए मार्चका अङ्क पढ़ें]

जीवकी परमावधि 'शिवत्व' की प्राप्ति है। जब तक जीव 'शिवत्व' को प्राप्त नहीं कर लेता, वह अपने वास्तविक स्वरूपसे अपरिचित होने के कारण दीन, हीन और दरिद्री बना ही रहता है। लोक और पर-लोक-दोनोंके सुखोंसे वह वंचित रहता है। प्रश्न है जीव 'शिवत्व' की प्राप्ति किस प्रकार करे? उत्तर है शिवानुग्रह। जीवको शिवानुग्रह प्राप्त करने के लिए अपने प्रत्येक क्षेत्रमें 'संयम' को गुरु मानकर चलना होगा।

जीवकी परमावधि शिवत्वकी प्राप्ति

डा० श्रीकेदारनाथ लाभ एम० ए० डी० लिट्०

विवेक-चूड़ामणिमें भगवान् शङ्कराचार्यने मुमुक्षुत्व (मुक्त होनेकी इच्छा) को मनुष्यत्व एवं महापुरुषोंकी सङ्गतिके समान ही दुर्लभ बताते हुए कहा है कि भगवत्कृपासे ही इन तीनों की प्राप्ति होती है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रह हेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥ (विवेक चूड़ामणि : ३)

आचार्य शङ्करका अभिप्रेत यह है कि दुर्लभ मनुष्य-देह को प्राप्तकर जो स्वार्थ साधन (मुक्ति साधन) में प्रमाद करता है वह मूढ़ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन्हीं चतुर्वर्गोंकी प्राप्ति करना मानव जीवनका उद्देश्य है। इन्हें ही पुरुषार्थ कहा गया है।

किन्तु अर्थ और काम से अमृतत्वकी उपलब्धिकी आशा नहीं की जा सकती और धर्म मोक्षका साधन मात्र है। अतः मुमुक्षुत्व मात्र मानवजीवनका उद्देश्य सिद्ध होता है।

भारतीय तत्व-चिंतकोंने आदि कालसे ही मुक्तिके उपायोंकी खोज की है एवं अपनी दिव्य साधना तथा अपरोक्षानुभवके द्वारा पथ-भ्रष्ट मानवोंको मुक्ति-मार्गका निर्देश किया है। ऐसे ही तत्व चिंतकोंमें भारतीय शैव साधक भी रहे हैं। इनमें कश्मीरके शैव साधकोंकी अपनी विशिष्टता रही है। इनके द्वारा संकेतित मुक्तिके उपाय वर्तमान युगकी अर्थ-काम-पीड़ित मानवताको कुंठा, बिखराव, भ्रम, विसंगति और विरूपताके मोह-पाश से विमुक्त कर उसे शाश्वत आनन्दके कैलाश-शिखरपर प्रतिष्ठित करने में सहज सुलभ सिद्ध हो सकते हैं।

कश्मीरी शैव दर्शनको प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक् दर्शन कहते हैं। इसे ही ईश्वराद्वयवादके नामसे भी अभिहित किया गया है। प्रत्यभिज्ञा शब्दका अर्थ है पुनर्ज्ञान (रिकॉगनिशन) अर्थात् ज्ञात वस्तुको फिर से जानना या पहचानना ही प्रत्यभिज्ञा है। जीव शिवसे अभिन्न है, किन्तु वह अपने वास्तविक स्वरूपको विस्मृत कर गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन उसे अपने सच्चे स्वरूपकी प्रत्यभिज्ञा (पुनर्ज्ञान) कराता है—यह सीख देता है कि उसमें और परम शिवमें तत्वतः कोई भेद नहीं है एवं आध्यात्मिक अनुशासनोंके द्वारा वह पुनः शिवके साथ एकात्म-बोध कर सकता है। जीव का शिवसे एकात्म-बोध करना और शिवरूप हो जाना ही उसकी मुक्ति है। अतएव प्रत्यभिज्ञा दर्शन वह साधन है, जो जीवको उसके विस्मृत स्वरूपकी पहचान करा कर उसे शिवसे सम्बन्ध स्थिर कराता है—शिव रूप बना देता है अर्थात् प्रति जीव महेश्वरका आभिमुख्येन ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार जीव शिवका ही आत्म-प्रसार है, शिवका ही स्वरूप है। परम शिव ही अपनी शक्तिके संकोचसे जब मलावृत हो जाते हैं, तब वे संसारी या जीव कहे जाते हैं। जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वतंत्रेच्छासे अपनी अभेदताको छिपा कर भेद व्याप्तिका अवलम्बन करते हैं तब उनकी इच्छा आदि शक्तियाँ असीमित होनेपर भी संकुचित या सीमित हो जाती हैं। उसी स्थितिमें मलावृत होकर वे संसारी हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें वे पंच महाभूतों (क्षिति, जल, पावक, आकाश और वायु) से युक्त स्थूल शरीर धारण करते हैं। इसी स्थूल शरीरमें पुर्यष्टक होता है—पंचतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) एवं अंतःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार) से युक्त—जिसमें आत्मा मृत्युके क्षण शरीरका परित्याग करती है। अतः प्रत्येक जीवके मूलमें शिवका ही वास है। पर वे मलावृतावस्थामें जीवके भीतर रहते हैं।

शिव मलावृत होनेकेलिए अपनी माया शक्तिका सहारा लेते हैं। माया शिव से कभी पृथक् नहीं होती किन्तु, प्रलयके क्षणोंमें वह सूक्ष्म रूपमें रहती है, निष्क्रिय और शान्त रूप

में रहती है। सृष्टिके क्षणोंमें वह सक्रिय हो जाती है तथा अहं और इदं को पृथक्-पृथक् कर देती है। अतः माया परमतत्वपर एक प्रकारका आवरण डाल देती है, जिससे वे अपना स्वभाव विस्मृतकर जाते हैं और पुरुष रूप अर्थात् जीवात्मक रूप धारण करते हैं। तदर्थ माया पंच कंचुकों का सहारा लेती है, जो उसकी ही उपाधियाँ हैं। वे पंच कंचुक हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति। इसीसे माया को 'कलादीनां तत्वानामविवेको माया' कहा गया है।

माया अपने पंच कंचुकोंके द्वारा पुरुषका शक्ति-संकोच कर उसके सर्वकर्तृत्व आदि गुणोंको परिसीमित कर देती है। फलतः वह अपने ही पंच कृत्योंको नहीं पहचान पाता है। वह लौकिक शास्त्र जन्य शंकाओंसे भ्रान्त और स्वशक्ति व्यामोहमें पड़कर अपने ही शुद्ध स्वरूपको नहीं जान पाता है और शक्ति-दरिद्र संसारी बन कर भटकता है। अतः अपने शुद्ध स्वरूपका अपरिज्ञान अथवा अज्ञानता ही बंधन है। इसीसे क्षेमराज ने लिखा है कि—"तेन शब्दार्थ चिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।—इत्यादिना शिव जीवयोरभेद एव उक्तः। एतत्तत्व परिज्ञानमेव मुक्तिः, एतत्तत्वा परिज्ञानमेव च बन्धः।" अर्थात् शब्द, अर्थ, या मन में कोई अवस्था नहीं है, जो शिव नहीं हो। इस सत्य का ज्ञान ही मुक्ति और अज्ञान ही बंधन है।

यद्यपि आत्मा चैतन्य है—चैतन्यम् आत्मा, तथापि वह बंधनयुक्त हो जाती है। कारण स्वशक्ति का अज्ञान तो है ही, साथ ही मन और इन्द्रिय प्रणालीके द्वारा जो ज्ञान होता है, वह शंका पूर्ण होनेके कारण बंधनवत् ही है। इसीसे शिवसूत्रमें ज्ञानको बन्धन कहा गया है—ज्ञानं बन्धः।

ज्ञानकी निवृत्तिसे बंधन-निवृति अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिका अर्थ है जीवात्मा द्वारा अपने सच्चे स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा अथवा पुनर्पहिचान। अर्थात् जब जीव अपने शुद्ध या अकृत्रिम अहम् विमर्शका पुनर्ज्ञान ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है।

'अकृत्रिम अहम् विमर्श' में विकल्पाभाव होता है। विकल्प सापेक्ष और भेदात्मक ज्ञानमय होता है। अर्थात् जीव अपनेको शुद्ध चेतना या परमतत्वसे भिन्न समझने लगता है। किन्तु, ज्यों ही जीव निर्विकल्पावस्थामें आता है, उसे अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। भेदात्मक बुद्धि मिट जाती है और अभेद या एकात्म ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अतः जीव और शिवका एकात्म ज्ञान अथवा जीव द्वारा अपने शुद्ध स्वरूपकी पहचान ही मुक्ति है।

इस 'अकृत्रिम अहम् विमर्श' से जीवको चिदानन्दकी प्राप्ति होती है। जीवात्मा परमात्मा हो जाती है। चित्त चिद्रूप हो जाता है। इसी 'अकृत्रिम अहम् विमर्श' से शिव विमर्शकी

प्राप्ति होती है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् अहम् या शिव रूप भासित होने लगता है और जीव शोक मोहसे मुक्त आनन्दोपलब्धि करता है।

किन्तु, यह चिदानन्द लाभ या मुक्ति बौद्धिक वितर्कों से नहीं, बल्कि परम शिवके शक्तिपात् अर्थात् अनुग्रहसे ही प्राप्त होती है। शिवानुग्रह मात्र मनोभिलाषासे प्राप्त नहीं हो सकती है। अयोग्य व्यक्तियोंपर शिवका शक्तिपात् नहीं हुआ करता। इसके लिए जीवको नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासनों एवं साधनाओंका अवलम्बन ग्रहण कर पूर्ण योग्य होना पड़ता है।

उपाय

जिन साधनोंके द्वारा जीव शिवका अनुग्रह प्राप्त कर सकता है, उन्हें उपाय कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—शांभव, शाक्त और आणव।

शांभवोपाय

शिव पशु-दशामें जीवमें भेद-बुद्धिकी सृष्टि करते हैं और उसीकी स्थिति बनाये रखते हैं तथा अभेद ज्ञानका संहार करते हैं। पर, पति-दशा में वे ही अभेद ज्ञानकी सृष्टि कर उसकी स्थिति बनाये रखते हैं तथा भेद ज्ञानका संहार करते हैं। ऐसा वे क्रम-क्रमसे विकल्पसे ह्रास उत्पन्न करते हैं। तब जीव आनन्दपूर्ण भैरव मुद्रामें प्रवेश करता है, जहाँ शुद्ध विकल्प शक्तिके रूपमें पराशक्ति चिदानन्दमें सोल्लास प्रवेश करती है जिसके कारण जीव सबको अपना ही समझने और सारे विश्वमें अपनी आत्माकी सत्ता देखने लगता है। इसके फलस्वरूप विकल्पके रहने पर भी वह मुक्ति या महेशत्व प्राप्त कर लेता है।

यही शांभव उपाय है। इसीके द्वारा जीव विकल्पक्षय एवं चिदानन्दकी प्राप्तिके लिए साधना करता है। और जब इस अवस्थामें वह पहुंच जाता है, तब उसे सम्पूर्ण जगत्में चिदाभास होने लगता है—स्वात्माभास होने लगता है। अतः उसे सहज मुक्ति मिल जाती है। शिवका अनुग्रह या शक्तिपात् तीव्रतासे होता है। अतः शुद्ध विद्याके उदयसे योगी का विश्वात्म रूप होना ही महेश्वर्य या चक्रेशत्व की प्राप्ति करना है।

शाक्तोपाय

इसका सम्बन्ध अन्तः प्रयत्नसे है। जिससे आत्मतत्वका चिन्तन होता है, उसे चित्त कहते हैं और वही स्वस्वरूपके मननके कारण मंत्र कहलाता है (चित्तं मंत्रः), इस मंत्रके अनुसन्धानमें जो अन्तः प्रयत्न करता है, उसे साधक कहते हैं (प्रयत्नः साधकः), साधक अपनी कुण्डलिनीको उठाकर मूलाधार तक ले जाता है, जिससे आत्मज्ञान होता है। इसीसे इसे ज्ञानोपाय भी कहते हैं। इसके साधकको प्रातिभ ज्ञान प्राप्त होता है। भेदानुभव शनैः-

शनैः क्षीण होता जाता है और साधककी चेतना परासंवित्‌में समाती जाती है तथा उसे "मैं ही शिव हूँ" (शिवोहम्) का ज्ञान हो जाता है। सारा जगत् उसे अपने ही स्वरूपका प्रसारसा दीखता है।

खेचरी, गोचरी, दिक्‌चरी और भूचरी शक्तियोंसे युक्त चित् शक्ति पशुदशामें बन्धन बनती है, तो पतिदशामें जीवको अभेद ज्ञान कराती है। साधक इन शक्तियोंके कारण ही ख–आकाश अर्थात् चेतनामें, गो–गति अर्थात् गतिशील पदार्थों यथा प्रकाश, किरण और गायादि में, दिक्–दिशाओंमें, एवं भू–स्थिति अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वीमें अभेद देखता है। इस प्रकार आकाश अन्तःकरण, देश और भवमें एक ही सत्ताका अभेद होनेसे साधक को पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् मुक्ति मिलती है।

आणवोपाय

यह मुक्ति-प्राप्त करनेका वह उपाय है, जिसके द्वारा जीव अपने करणों का स्वयं उपयोग कर आत्मज्ञान-लाभ करता है और अन्ततः मुक्त होता है।

परमेश्वरमें स्फुरत्तासार कर्तृतात्मा ऐश्वर्य शक्ति है। जब वह ऐश्वर्य शक्ति अपने स्वरूपको गोपित कर प्राण, अपान और समान शक्ति दशाओंसे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं तथा देह-प्राण पूर्यष्टक कलाओंद्वारा पशु दशामें व्यामोहित होती है तब यही व्यामोहितता पुरुषको जीव या संसारी बनाती है। किन्तु, जब यही ऐश्वर्य शक्ति उदान शक्ति और विश्वमें व्याप्त रहनेवाली व्यान शक्तिको मध्यधाम (सुषुम्णा नाड़ी) में व्यक्त करती है तो क्रमशः तुर्य और तुर्यातीत-रूपा होकर चिदानन्दघन कहाती है। ऐसी स्थितिमें ही जीव पतिदशा प्राप्त कर जीवन्मुक्ति पाता है।

विश्व स्वभावभूत परमसत्ता हीं संकुचित रूपमें बुद्धि-क्रियाके साथ चित्त बनती है। मायाके कारण ही इस चित्तमें भौतिक तत्वों (कलाओं) का अविवेक उत्पन्न होता है। इसलिए चित्त रूप जीव भेद ज्ञानसे ग्रसित हो भटकता रहता है। इस मायाके शमनके लिए योगी पंच भूतात्मक स्थूल और सूक्ष्म तत्वोंको अपने संवित् शरीर में नष्ट कर देते हैं। जब योगी अपने मोह (अख्याति) पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसको एक आत्म-प्रकाश की प्राप्ति होती है जिससे उसे सहज-विद्या की उपलब्धि होती है।

इस भाँति योगी स्वात्मचित् रूपी आधारपर स्वपरिस्पन्द लीलासे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिकी भूमिकामें नृत्य करता हुआ आभासित होने लगता है। योगी इसी सहजा विद्याके उदित होनेके कारण पुनर्जन्मादिके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। इस सहजा या शुद्ध विद्याके उदित होने पर योगीको बैठना नहीं चाहिये, ऐसा शिव सूत्रमें कहा गया है। उसे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों में चौथी तुरीयावस्थाका ही आसंचन सदैव करना चाहिये। उसे चाहिये कि वह तुरीयानन्दमें प्रवेश करे। इस प्रकार योगीका प्राण जब

सम्यक् रूपसे प्रसरित होने लगता है, तब उसे सब अवस्थाओं में सम्यक् अभेद दर्शन होता है। किन्तु योगीको तुर्यातीत अवस्थामें प्रवेश करना चाहिये अन्यथा उसे जन्म-चक्रमें पड़ना पड़ेगा। अतः रूपादि पदार्थोंमें तादात्म्य अनुभव करते हुए तुर्यानन्दको उठाकर तुर्यातीत अवस्थामें पहुँचना चाहिये, जहाँ वह शिवात्मतत्व को प्राप्त कर जीवन मुक्त अवस्था के परमानन्दका सदैव आस्वादन कर सके।

जीवन्मुक्ति

जीवन-मुक्तिके लिए चिदानन्द लाभकी आवश्यकता है। इस चिदानन्दकी प्राप्ति, प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार, मध्य विकाससे ही हो सकती है। यह मध्य उपर्युक्त तीन उपायोंसे भिन्न रूपसे ग्रहण किया गया है। आणवोपाय में मध्य का अर्थ है उस सुषुम्णा नाड़ीको खोलना, जो इड़ा और पिङ्गलाके बीचमें है। शाक्तोपायमें मध्य उस परासंवित् को कहा गया है, जहाँ पहुँचना साधकका लक्ष्य है और शांभवोपायमें मध्य सभी पदार्थोंका केन्द्र है—अकृत्रिम अहं विमर्श है। इसी मध्यकी प्राप्ति शांभव, शाक्त या आणवमें से किसी एक उपाय द्वारा करनी है। तभी मुक्ति मिल सकती है।

मध्य विकासके लिए विकल्प-क्षय, शक्ति-संकोच, शक्ति-विकास, वाहच्छेद और आद्यंत कोटिकी साधना प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें उपयुक्त बतायी गयी है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन पंचकृत्यके ध्यान और विकल्प-क्षयके साधन पर जोर देता है। उसके अनुसार शिवमें पंच कृत्य-सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह निरंतर चलते ही रहते हैं। जीवोंके द्वारा भी ये कृत्य होते रहते हैं। साधकको परम चेतनासे मिलनेके लिए सदैव इन पंच कृत्योंके मूलमें निहित अर्थका ध्यान करते रहना चाहिये। सृष्टि, स्थिति और विलयकी क्रियाओंके पश्चात् अहं चेतना जब हठपाक पद्धतिसे परम चेतना या चित् में पूर्णतः समासीन हो जाती है, तब उसे अनुग्रह कहते हैं। पंचकृत्यके साधनसे जीव चिदानन्द के योग्य हो जाता है और उसे मुक्ति मिल जाती है अर्थात् उसे अपने शुद्ध स्वरूपकी पहचान हो जाती है कि वह शिव है, शिव है और केवल शिव ही है। फिर उसे मुक्ति मिलनेमें क्या विलम्ब हो सकता है! वह तो जीवन मुक्त है ही।

आजके अर्थाक्रान्त, वासना-विकल विभ्रान्त विश्वको चाहिए कि वह उपर्युक्त उपायोंका अवलम्बन ग्रहणकर शिवानन्दकी उपलब्धि करे अथच मुक्ति-बोध प्राप्त करे और शिव स्वरूप जीवन यापन करे, तभी उसका वास्तविक कल्याण है।

कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम्।
मानवः शिव योगेन शिवो भवति निश्चयात्॥

मेरा शरीर रोमांचित है, मेरे हाथ ऊपर उठे हैं; हे शिव, सिसकते और रोते हुए मैं पुकारता हूँ, मिथ्या-असत्यका परित्याग करते हुए मैं आपकी जय बोलता हूँ, स्तुति करता हूँ।

सूरदासजी श्रीकृष्णके परम भक्त थे। सूरदासजीकी भक्ति श्रीकृष्णके विभिन्न रूपोंपर आधारित है। पर सभी रूपोंमें श्रीकृष्ण 'श्रीकृष्ण' ही हैं-परब्रह्म परमात्मा, अविगत, अविनाशी, लीलापुरुष। 'रूप' और विशेषण अनेक, पर सबमें नामकी एकता। कहना होगा कि सूरदासजीकी 'भक्ति' में 'चरमावस्था' और 'पूर्णता' है। इसीलिए तो उन्हें हरिका तादात्म्य भी हुआ।

सूरके भावातीत श्रीकृष्ण

श्रीसंतकुमार टंडन 'रसिक' एम० ए० एल० टी०, सा० र०, शास्त्री

महाकवि सूरदासने एक ही गोपालकृष्णके प्रति माधुर्य, वात्सल्य और सखाभावकी प्रेम-भक्तिका चित्रण कर भावकी सर्वोपरि महानता प्रकटकी है। प्रत्येक मानवीय भाव चरमावस्थामें श्रेष्ठ है और उसमें मनुष्यको भगवत्प्राप्ति हो सकती है। सूरदासने भगवान् कृष्णको ही भावातीत चित्रित किया है। मूलतः भावातीत होकर भी वह भक्तको उसके अनुकूल ही सुलभ होते हैं। बालकृष्ण यशोदाके वात्सल्यके आलम्बन हैं, वही गोपियोंमें माधुर्यभाव जाग्रत करते हैं और साथही सखाओंमें सखाप्रेमकी वृद्धि करते हैं। कभी ऐसा नहीं हुआ कि अपने-अपने भावोंमें इन्होंने कोई अंतर स्वीकार किया हो। श्रीकृष्ण सभी भावोंमें स्वतः पूर्ण हैं, तथापि वे इन सबसे ऊपर या परे भी हैं। अक्रूरके पधारनेपर श्रीकृष्ण ऐसा व्यवहार करते हैं, जैसे वे पूर्वसे ही उनकी प्रतीक्षामें थे। उनके इस विलक्षण व्यवहार पर सारे ब्रजवासी चकित रह जाते हैं—

पारब्रह्म अविगत अविनासी मायारहित अतीत ।
मनौं नहीं पहिचान कहूँ की करत सबै मनमीत ।।
बोलत नहीं नैकु चितवत नहिं सुफलक सुत सौं पागे ।
'सूर' हिमैं हतकरि नृप बोलें यहै कहत ता आगे ।।

उन्हें किसी की आकुलता की चिन्ता नहीं—

कौन माता पिता को है, कौन पति को नारि ।
हँसत दोउ अक्रूर के संग, नवल नेह बिसारि ।।

इसके पश्चात् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण चरित्रमें एक गौरवकी भावना समाहित होती है, जिसका चित्रण सूरदासने कुशलतासे किया है। इस मर्यादा चरित्रमें भी महाकविकी व्यंजना यही है कि कृष्ण पूर्ण भावकी मूर्ति हैं। वे स्वयं न बालक हैं, न तरुण हैं, न प्रेमी हैं, न प्रेमास्पद हैं। एकमात्र भक्तिभावना और अनुभूति पर आश्रित है उनकी मूर्ति। श्रीकृष्णका यह मूर्तस्वरूप सुन्दर, सुकुमार, कोमल, मधुर, चंचल, रसिक, क्रियाशील, गतिमान और अद्भुत् लीलाधारी है। अत्यन्त सामीप्यके साथ सखाभावसे दर्शन करनेपर वे सहज ही बड़े प्रिय लगते हैं, किन्तु जिस प्राकृतभावसे उन्हें यशोदा अपनाती हैं, वह बेजोड़ हैं। वह अनुराग इतना तीव्र है, इतना तल्लीन है कि उसमें मन और इंद्रियाँ ही नहीं, बुद्धि और आत्माभी लीन हो जाती है। स्नेह यशोदाका अनुकरणीय अवश्य है, किन्तु स्पृहणीय नहीं। कृष्णको पुत्ररूपमें प्राप्तकर वात्सल्य प्रदर्शनका सौभाग्य कहाँ ? गोपियोंका प्रेम सुलभ कहाँ ? परन्तु कृष्णकी अभिनव सुन्दरता, उनकी मनोहर लीला जड़ चेतनकी सौन्दर्यभावनाको सहज ही अभिभूत कर सकती है। उपासक उनके साथ अपने मनकी कलुषताका परिष्कार कर उसे समुज्ज्वलता प्रदान कर सकता है। इस मधुर रसका स्वाद अकथनीय है।

विविध भाव, जो प्रेम-भक्तिके साधक हैं, इहलौकिक प्रतीत होते हैं, पर वे लोकातीत हैं और वैराग्यकी उस चरमावस्थामें वे तिरोहित होते हैं, जिसमें संसारके सभी पदार्थों के प्रति मन विकार-शून्य हो जाता है। अनुभूति और भावनाके आधार पर वह आनंद-मूल मिल जाता है, जिसके लिए बड़े-बड़े विरक्त और ज्ञानी लालायित् रहा करते हैं। अतः सूरदासने प्रेमभक्तिके मार्गमें ज्ञान, वैराग्य, कर्मकांड और धर्मके अन्यान्य साधनोंका प्रत्याख्यान किया और भक्तिको इतना सबल, सक्षम तथा महत्वपूर्ण प्रतिपादित किया कि उसमें साधन और साध्य—दोनों ही एकाकार हो जाते हैं। आनंदकी प्राप्तिके पश्चात् जीवनका प्रयोजन ही क्या ? पूर्ण परमानन्द श्रीकृष्ण ब्रह्मकी शरण प्राप्त हो जानेके पश्चात् प्राप्य रहा ही क्या ? अस्तु, सर्वात्म समर्पण युक्त प्रेममूलक भक्ति श्रीकृष्ण भगवान्के ही वचनोंके अनुकूल है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

यह सृष्टि-यह जगत् कर्मोंका ही विस्तृत व्यापार है। संसार-चक्रकी धुरी कर्मोंसे ही चल रही है। भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गीतामें इसीलिए तो कर्मोंको ही 'सर्वोपरि' सिद्ध किया है। गीताके अनुसार वस्तुतः अनन्य मुमुक्षु, योगी और 'सिद्ध' वही है, जो लोकके कल्याणके लिए निरासक्त होकर 'कर्म' करता है।

जीवनका सिद्धिमंत्र—कर्मयोग

डा० श्रीमधुकरभट्ट एम० ए० पी-एच० डी०

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीयदर्शन और साधनाका सारतत्त्व है। वेद, उपनिषद्, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशिक्षा आदि सम्पूर्ण विद्याओं और शास्त्रोंका सार गीता है। कदाचित् इसीलिये श्रीवेदव्यासजीने महाभारतमें गीताजीका वर्णन करते हुए कहा है—

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥"

परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविंदसे निकले हुए उपदेशोंमें ईश्वरने स्वयंमें लीन हो जानेके दो मार्ग निर्दिष्ट किये हैं— (१) सांख्ययोग और (२) कर्म-योग। सांख्ययोगके विषयमें चर्चा करते हुए गीताकारने उसे कर्मयोगसे अधिक कठिन बताया है और यही कारण है कि कालान्तरमें इसे सन्यासियों और विरक्तियोंकी साधना का मार्ग स्वीकार कर लिया गया, यद्यपि यह गृहस्थोंके लिए भी उपयोगी है। सांख्यमार्ग

का अधिकारी देहाभिमानसे रहित होना चाहिए और यह गृहस्थोंमें प्रायः साधनाकी दृष्टिसे दुर्बोध और क्लिष्ट है। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत् तत्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

—हे अर्जुन ! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, भोजन करते, गमन करते आदि सभी इन्द्रियोंके अपने-अपने कर्मको करते हुए यह समझता है कि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें अपनेको प्रकट कर रही हैं। यह समझते हुए अभिमान रहित होकर यही अनुभव करता है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ।

भगवान्‌ने सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगकी महत्ताका प्रतिपादन करते हुए स्वयं कहा है--

सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

—निष्काम कर्मयोगके बिना सन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्त्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है भगवत्स्वरूपको मननकरनेवाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार कर्मयोगकी महत्ताका व्याख्यान गीतामें विशद रूपसे हुआ है। गीताका कर्मयोग एक ऐसे कर्मका स्वरूप प्रस्तुत करता है, जो बन्धनका कारण नहीं होता; जबकि भारतीय दर्शनमें कर्म बन्धनका कारण माना गया है। गीताका जीवन-दर्शन ईशावास्योपनिषद्‌के इस मन्त्र के—

कुर्वन्नेवह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः ॥

विपुल भाष्यपर आश्रित माना जाता है। गीताके कर्मयोगका तात्पर्य है–सब कुछ ईश्वरका समझकर हानि-लाभ, दुःख-सुख आदिमें समभाव रखते हुए अनासक्त भावसे परमपुरुष ब्रह्मके आदेशानुसार मात्र भगवान्‌के ही लिए सांसारिक कर्मोंका कर्तव्य करना तथा आत्मसमर्पण युक्त भक्ति, वाणी और वचनसे ईश्वरके स्वरूपका ध्यान करना । यही निष्काम कर्मयोगका साधन है। अर्थात् फल और आसक्तिको त्यागकर भगवत्

आज्ञानुसार केवल भगवत् अर्थ समत्वबुद्धिसे कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है। इसीको "समत्वयोग", 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', तदर्थकर्म, 'मदर्थं कर्म' 'मत्कर्म' इत्यादि नामोंसे अभिहित किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा है--

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

—आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर! यह समत्वभाव--जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है।—ही योग नामसे कहा जाता है।

इससे स्पष्ट हैकि योग समत्वकी प्राप्तिका दूसरा नाम है। योगका एक अन्यअर्थ भी है — कर्मोंका कुशलतासे सम्पादन करना (योगः कर्मसु कौशलम्) अर्थात् इस प्रकार कर्म करना कि वह बन्धन न उत्पन्न कर सके। अब यह प्रश्न उठता है कि कौनसे कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं और कौनसे नहीं ? गीताके अनुसार जो कर्म निष्काम भावसे ईश्वरके लिए सम्पन्न किए जाते हैं, वे बंधन नहीं उत्पन्न करते। गीताकी उक्ति है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

जो पुरुष सब कर्मोंका परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेके सदृश पापसे लिपायमान नहीं होता। वह मोक्षरूप परमपदकी प्राप्तिमें सहायक होता है। इस प्रकार कर्मफल तथा आसक्तिसे रहित होकर ईश्वरके लिए कर्मकरना वास्तविक रूपमें कर्मयोग है और इसका अनुसरण करनेसे मनुष्यको अभ्युदय तथा निःश्रेयस्की प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार कर्मोंसे सन्यास लेने अथवा उनका परित्याग करने की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मोंका केवल परित्यागकर देनेसे मनुष्य सिद्धि अथवा परमपद नहीं प्राप्त करता। सत्य तो यह है कि मनुष्य एकक्षणभी कर्म किए बिना नहीं रहता। गीताकारका कथन है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—सर्वथा कर्मोंका स्वरूपसे त्याग हो भी नहीं सकता; क्योंकि कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है। निःसंदेह सब ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

इसप्रकार स्पष्ट है कि किसीभी मार्गके अनुसार कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य न तो कर्मोंके न करनेसे निष्कर्मताको प्राप्त होता है और, न कर्मोंके त्यागने मात्रसे भगवत् साक्षात्काररूप सिद्धिको प्राप्त होता है। इसलिये जो व्यक्ति इन्द्रियोंको बलात् रोककर, इन्द्रियजन्य भोगकेप्रति अन्तरमें मनन करता है, वह ढोंगी और पाखंडी होता है। क्योंकि मनोवेग वर्जित सदाचार केवल दंभ है। वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो हृदय से कर्मेन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त भावसे कर्मयोग का आचरण करता है। फलतः कर्म करना मनुष्यकेलिए अनिवार्य है। उसके बिना शरीरका निर्वाह भी संभव नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि—तीनोंलोकोंमें उनको कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। उनके लिए कोईभी वस्तु विश्वमें अप्राप्य नहीं है। फिरभी वे स्वकर्ममें संलग्न रहते हैं। यदि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" होकरभी वे कर्म न करें तो मनुष्यभी उनके चलाये हुए मार्गका अनुसरण करनेसे निष्क्रिय होजायेंगे। इससे लोक-धर्म और लोक-रक्षाके लिए किये जानेवाले कर्मोंका हनन होजायगा, फलतः सारी सृष्टि नष्ट होजायगी। इसलिए आत्मज्ञानी पुरुषोंकोभी, जो प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होगया है, सदा कर्म करते रहना चाहिए। उस कर्मका स्वरूप अज्ञानी मनुष्यके कर्म-स्वरूपसे भिन्न होना चाहिए। अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार फलप्राप्तिकी आकांक्षासे कर्म करता हुआ कर्ममें लिप्त रहता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानीको लोक-धर्म, लोक-रक्षा और लोक-संग्रहके लिए कर्ममें लिप्त न रहते हुए (आसक्ति रहित होकर) कर्म करना चाहिए। इतना ही नहीं, गीताकारका तो यहाँ तक कहना है कि—

"न बुद्धिभेदजनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥"

—ज्ञानीपुरुषको चाहिए कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ और सबकर्मोंको अच्छी प्रकार करता हुआ, उनसेभी वैसा करावे।

परमपुरुष श्रीकृष्णने सत्व, रज और तम से आवृत इस त्रिगुणात्मक संसारको, जहाँ मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय व्याप्त हैं, जिन्हें 'गुण-विभाग' कहा गया है और इनके परस्पर क्रिया व्यापारों को "कर्म-विभाग" की संज्ञा दीगयी है, नाशवान् कहते हुए कहा है कि गुण-विभाग और कर्म-विभागके तत्वको जाननेवाला ज्ञानीपुरुष सम्पूर्णगुणको स्वाभाविक गुणरूपमें व्यवहार करते हुए वर्तते हैं और उसमें आसक्त नहीं होते। भगवान्ने कर्ममें लिप्त न होनेके लिये सबसे अधिक उत्तम उपाय तो यह बताया है कि :—

"मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर ॥"

—जहां भक्ति है, वहीं सिद्धि है । यदि ध्याननिष्ठ चित्तसे संपूर्णकर्मोंको ईश्वरमें समर्पितकरके आशारहित और ममतारहित होकर, संतापरहित हुआ पुरुष अपना कर्त्तव्य करता रहे तो निश्चित् है कि वह संपूर्णकर्मोंसे छूट जाता है । जहाँ परब्रह्मपरमात्मा स्वयं "योगक्षेमंवहाम्यहम्" कहकर शरणमें लेनेको तत्पर है, वहाँ जीवको क्या चिंता है, उसे तो सभी कर्मोंको अनासक्तभावसे करते हुए उसीमें समर्पित कर देना चाहिए । यही जीवकी एकनिष्ठता है ।

कर्मयोगकी सबसे उच्च-साधना "मामेकं शरणंव्रज" है । जहां भगवान् विष्णु स्वयं शरण देनेको तत्पर हैं, वहां भय, राग, द्वेष, चिंता और अन्य सांसारिक कार्यकलापोंका क्या संबंध ? भगवान् स्वयं कहते हैं :—

"सर्वधर्मन्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥"

—इसलिये सर्वधर्मोंको अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानंदघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो, मैं तेरे संपूर्ण पापोंको नष्ट कर दूँगा, तू शोक मत कर ।

यही उपदेश है, यही सारतत्व है और यही आत्मज्ञान है । इसप्रकार आत्म-ज्ञानसे संपन्न व्यक्ति ही गीता के अनुसार, वास्तविक रूपसे कर्मयोगी हो सकता है ।

हमारौ मुरली बारौ स्याम

बिनु मुरली बनमाल चंद्रिका, नहिं पहिचानत नाम ॥
गोप-रूप वृन्दावन चारी, व्रज जन पूरन काम ।
याहीसौं हित चित्त बढ़ौ नित, दिन दिन पल छिन जाम ।।
नंदीसुर गोवरधन गोकुल, बरसानौं बिस्राम ।
'नागरिदास' द्वारका मथुरा, इनसौं कैसौ काम ॥

अब हौं सरन केवल स्याम ।
घोर कलि के तेज कौ तन सह्यो जात न घाम ॥
लीजिये तरु चरन छाया, मूल सुख बिसराम ।
अजित मन तैं काम सुभ कछु बैन ह्वै छिन जाम ॥
सबनि लीनौं जीतिहूँ भयौ भीत सरत न काम ।
अब रहै 'नागरिदास' कैं रट लगी रसना नाम ॥

•••○○•••

नावार्द्रहृदयकी एक पुकार

अंतरसे निकली हुई पुकारके 'शब्द'–भाव, भाषा कुछ और ही होती है। 'सचाई' के उन्मादमें वह सब कुछ लाँघ जाती है, सबको पीछे छोड़ जाती है। पृथ्वी से उठकर, वह उस 'शिखर' को गुंजायमान कर देती है, जिसे 'अनन्तसत्ता' का शिखर कहते हैं। आखिर उस अनन्तसत्ताको नीचे–बहुत नीचे उस अंतर में उतरना ही पड़ता है, जहाँ से 'शब्द' फूटते हैं। धन्य हैं वे, जिनमें अंतरसे पुकारकी सूझ है।

आत्मनिवेदन

श्रीगोविन्द शास्त्री एम० ए० सा० र०

कन्हाई!

बड़े हठीले हो। नहीं आते तो नहीं ही आते। शायद मेरे मनकी दुविधा तुम्हें पसन्द नहीं, शायद मेरे मनका मैल तुम्हें नहीं रुचता, पर मैंने तो तुम्हें बड़ा भोला-सलोना समझकर चुना था। मैंने सुना था—तुम भोले हो, इतने भोले कि लोग तुम्हारेको ठगते ही रहते हैं। जो भी कोई तुम्हारे पास जाता है, अपना कलुष तुम्हारे भेंट आता है, इसलिये तुम काले बन गये हो, पर मैंने तो तुम्हें काला सुन–समझ कर ही चाहा था। इस सारी दुनियाका उजलापन मुझे तुम्हारे कालूषके सामने फीका लगा था, निरानन्द लगा था इसीलिये मैं तुम्हारी ओर झुका था। कहाँ हैं मेरे ऐसे भाग्य कि तुम्हारे दर्शन पाऊँ! उस दर्शनके लिये तो तड़प चाहिए और मेरेमें वह तड़प उठ ही नहीं सकती, यही कारण है तुम्हारे बेपीर बने रहनेका। मैं रोज तुम्हें याद करता हूँ–याद करना उसको कहतो सकते

हैं, वर्ना उस समय बैठकर मैं उन सपनोंमें खो जाया करता हूँ, जो मेरे इर्दगिर्द छाये रहते हैं, जो इस दुनियाकी यहीं रह जानेवाली साधारण-सी बातें हैं। हर दिन मैं इस आत्म-प्रवंचनाको पूजाके नामसे रचाया करता हूँ और उस पूजासे उठते ही मेरे मनमें एक पाश्चाताप उठता है, मैं सोचता हूँ—यह समय का अपव्यय है, जीवनमें 'शिश्नोदर' से हटकर काम भी कौनसा किया है मैंने। समय का सदुपयोग होनेका भाग्य ही कहाँ है! अनजानी आशा और निराशाके छिद्रोंसे जीवन रिसता जा रहा है और उस रिक्तताको मैं पछतावेसे भरनेकी कोशिश कर रहा हूँ, पर पछतावा भी एक स्वभाव बन गया है। ऐसी दुविधामें फँस गया हूँ कि वह दुविधा ही जीवनकी कारा बन गई है। मैं झुँझला कर कहता हूँ—तू दयालु ही है, तो एक न एक दिन तुझे मेरे इस श्रम पर ही रीझना पड़ेगा। मेरे शब्दोंमें आत्मा नहीं रही, मेरे निवेदनमें समर्पण नहीं रहा, पर मैं क्या करूँ? इस मनको जब तुमने ही दुर्निग्रह बता दिया तो मैं किस बूतेपर इससे जूझूँ! मैं तो अपने आपको तेरे समर्पित कर चुका, फिर मन मेरेसे सामंजस्य नहीं रखता है तो यह मेरा अपराध है? मेरे वे शब्द अर्थहीन होगये हैं तो क्या यह मेरा दोष है? या उन शब्दों का? इस दुष्ट मनका एक स्वभाव होगया है कि किसी भी बातको बार-बार दोहरानेसे यह उससे पराङ्मुख हो जाता है—इस प्रकृतिने मेरी स्तुतिको निष्प्राण कर दिया। मैं उन शब्दोंको भूलकर, उस सनातन बोधसे पृथक् होकर, यदि दूसरे शब्दोंके सहारे आत्मनिवेदन करना चाहता हूँ तो शब्दोंकी सरिताका प्रवाह रुक जाता है, मेरा मन बहक जाता है, मैं कहीं खोजाता हूँ। ऐसा एक दिन नहीं होता, रोज होता है। मैं ही भटक जाता हूँ, मैं ही मार्ग पर आजाता हूँ और फिर एक ढोंग रचता हूँ—पछतावेका, हाँ, ढोंग ही तो है वह, क्योंकि वह पछतावा, पछतावे के ही लिये तो होता है।

तू जानता है कान्हा! मैं कितना दुर्बल हूँ। ऐसा कौनसा अपकर्म है, जिसे मैंने हजार बार नहीं किया! हर बार करके मैं पछताया और हर पछतावेके बाद उसीको दोहराया। आजतक मैं यह भेद नहीं समझ पाया कि उसे करनेके लिये मुझे कौन उत्तेजित करता है और करने के बाद कौन धिक्कराता है? मैं इस रहस्यको सुलझाना नहीं चाहता, क्योंकि इस विवेचनमें फँस कर तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा। मैं तो अन्धा होना चाहता हूँ, मूर्ख बनना चाहता हूँ। उस थोथे तर्क का मैं करूँगा भी क्या, जो एक नहीं सहस्र मार्ग दिखाता है, मैं विवेचक बनकर तेरा प्यार पा सकूँगा क्या? नहीं पा सकूँगा, निश्चयसे नहीं पा सकूँगा। मैंने मेरी दुर्बलताओंको तेरी ही दुर्बलता कह कर सन्तोष कर लिया, मेरे मनको अच्छे लगनेवाले दुष्कृत्योंको तेरे नाम पर भोगा—मेरा तर्क था कि जब मैंने अपने आपको सर्वात्मना तेरे ही समर्पित कर दिया तो फिर मेरा क्या रहा? पर यह भी मेरा ही विडम्बित दर्शन था। उस समर्पणमें मैंने मेरे लिये एक गुरुतर अंश बचाकर रख छोड़ा था। ये दो जीवन भी कितने विचित्र हैं—एक दूसरे से जुड़े हुए होकर भी विपरीत। तुमने अर्जुनसे कहा था—यह सब हृदयकी दुर्बलता है, इसे छोड़ दो, पर मेरे लिये यह

दुर्बलता ही अलंघ्य प्राचीर बन गई है। आज भी केवल एक ही आशाके सहारे इन वासनाओं और वितृष्णाके सागरमें डूबता-उतराता रहा हूँ कि कभी-कभी मुझे ऐसा आभास हो आता है कि मेरे मनमें ही कोई संगीत बज रहा है। दूर किसी अनजाने प्रदेशमें कोई मोहक स्वर गूंज रहा है और मैं उसके एहसासमें ही खो जाता हूँ। मैं नहीं समझता कि वह स्वर कौनसा है और कहां से आ रहा है? पर उसकी प्रतीति ही बड़ी मोहक है, उसका स्मरण-सुख ही बड़ा आह्लादकारी है। ऐसा यदा कदा होता है, पर उस यदा-कदा में ही मेरे जीवन के धन्य क्षण सिमटे रहते हैं। मैं समझता हूँ कि सारा जीवन सम्पूर्ण रूपसे धन्य नहीं हो पाता, कृतार्थताके तो कुछ क्षण ही मिल पाते हैं पर उन क्षणोंके लिये सारे जीवनको घुलना पड़ता है। मीरा जब जन्मभर दुखाती रही, हर श्वासमें तड़पती रही तो कोई 'क्षण' ऐसे आये होंगे, जब उसे अपने प्रियसे साक्षात्कार हुआ होगा। विजयका उल्लासभी सारे जीवन भर नहीं भोगा जाता, पर उस विजयके लिये कितना समारंभ रचना पड़ता है। यदि सारा जीवन ही विजय बन जाय तो उसमें वह आनन्द रह ही नहीं सकता, इसीलिये मैं केवल क्षण चाहता हूँ, तेरे सम्पर्कके सुवासित क्षण, उनके सहारे यह जीवनका द्वैत मेरे लिये सहनीय हो जायगा। मैं डरता हूँ, इसलिये डरता हूँ कि तेरा अविच्छिन्न सम्पर्क यदि मुझे मिल जायगा तो मेरी यह क्षुद्रता नष्ट हो जायगी। मेरी विन्दुको सिन्धुमें मिलानेसे वह सिन्धु-स्वरूप भले हो जाय, पर उसका अस्तित्व सदा सदाके लिये निःशेष हो जाता है और मेरे प्रिय! मुझे जितना तेरी महिमासे प्यार है, उतना ही मेरी क्षुद्रतासे भी है। मैं तुझ-जैसा असीम होकर क्या पाऊंगा! इस भेदको मिटा कर उस अद्वैत सिद्धिसे मुझे क्या मिल जायगा! मैं तो ऐसा ही अच्छा हूँ। एक ऐसा पर्दा हमारे बीच है और रहना चाहिए, जिसमें कुछ दिख रहा है और कुछ नहीं। बस, तू है और मैं हूँ। यही द्वैत भावना मेरी प्रिय वस्तु है। तेरा महिमा मण्डित अस्तित्व मेरे लिये आदरकी वस्तु है, पर मैं उसे अधिकार बुद्धिसे नहीं देखता। सागर, सागर है और विन्दु, विन्दु है। मैं पूछता हूँ गिरिधारी! बूंदमें कौनसी ऐसी बात नहीं है, जो सागरमें है। हां, विशालता और अनन्तता के लिये तू कह सकता है, पर इस विशालतामें अगर तूने सारी बूंदोंको समेट लिया अथवा वे सारी बूंदें तेरी अनन्तताको पानेके लिये अकुला उठीं तो तू बिना पूजाके रह जायगा, संसार का यह सारा चक्र ही नामशेष रह जायगा, फिर तुम खेलोगे किससे? तुम्हारी यह दुरत्यय माया अपना रूप दिखाकर किसको भरमायेगी? इसीलिये यह द्वैत है और इसीलिये मैं इसे पहचानता-प्यार करता हूँ।

यह पीड़ा मेरी है, यह एकान्तिक अनुभव मेरा है, मैं खुद ही इसे भोगना चाहता हूँ पर यह आवेग समेटे नहीं सिमटता और यह मेरा एकान्त, गोपनकी सीमा तोड़कर बह जाता है, प्रकाश्य बन जाता है। मैं सोचता हूँ—

'जिहि तिहि भांति डर्‌यो रहूँ परचो रहों दरवार'

मैं नहीं चाहता कि मेरे ये प्रकाशन मुझे मान सम्मान दिलावें, ये जागतिक यश और कीर्तिभी अपरिभाष्य हैं। देख न ! मैं विशुद्धरूपमें जन्मा था और आज जो कुछ भी हूँ, जिसभी किसी विन्दुपर आया हूँ, वहाँ मुझे इस संसारने ढकेल दिया है,मैं स्वयं नहीं आया। इस समाजने मुझे अपने 'आत्म-बोधों'से लाद दिया है और मैंने भी उन विगलित कन्थाओंको बड़े प्यारसे गलेमें डाललिया है। निन्दाकी मैं उपेक्षा कर सकता हूँ, पर यश और स्तुतितो ऐसे विष हैं जिनका कोई उपचार नहीं। इन उज्ज्वलताओंकी अपेक्षा मुझे तुम्हारा कालापन ज्यादा पसन्द है। समाजने जिन स्वार्थों और आवश्यक-ताओंके कारण रूढ़ परम्पराओंको स्वीकारकर व्यक्तिके साथ अबोध अवस्थामें ही बलात्कार करनेकी परिपाटी डालदी है, उसका मुझे बड़ा बोझ लगता है, उससे संत्रस्त हो उठता हूँ। तुम्हें मेरी दयनीय स्थिति पर तरस नहीं आता? तुम यह क्यों भूल जाते हो कि मैं मानव हूँ, मेरी हर स्थिति-परिस्थितिकी सीमा है। मेरे इन वृत्तोंको तुम उतना बड़ा नहीं समझ रहे, जितना मैं समझ रहा हूँ, अगर उतना बड़ा समझ लेते तो हस्तावलंब देते ही। जब तुमने निकृष्ट-से-निकृष्टको ही निराश नहीं किया तो मेरेसे असहायपर द्रवित होते ही।

मैं तुम्हारा विवेचन-विश्लेषण करूँ, तुम्हारी मायाकी निन्दा-स्तुति करूँ—ना श्यामसुन्दर ! यह नहीं होनेका। सारा पाण्डित्य जहाँ समाप्त होता है, वहींसे प्रेमका जन्म होता है, सहस्र चक्षुओंका ज्ञातव्य जहाँ विरम जाता है, वहींसे अन्धी श्रद्धा टटोलती-सतोलती चलती है। मुझे यशस्वी होकर क्या लेना है ? उस यशोलिप्सामें तो मात्र भटकन है, वह रूढ़पथ जिस पर चलकर व्यक्ति कीर्तिमान् बनता है, वह तो मरीचिका है। सुख-दुःखोंकी मीमांसा मैं नहीं जानता। संसारकी निरपेक्ष सत्ताको मैं मेरे कोणसे देखकर वर्गीकृत करना नहीं चाहता। मैं बताऊं ? दुःख वही है, जो तेरे से विलगाता है, तेरी स्मृतिको धुंधली करता है, भले ही वह ज्ञान है, यश है या मनन है। इस संसारके और जीवनके रहस्योंको उघाड़कर मैं क्या पा जाऊंगा ? एक आत्म-सन्तोषही तो, पर मुझे इस टुच्चेसे सुखकी आकांक्षा ही नहीं है। इस रहस्यको अनुद्घाटित रहने देकरभी मैं बहुत कुछ नहीं खोऊँगा। जीवन एक प्रवाह है,शरीर एक इकाई है—इनका अथ-इति जान लेना मुझे रुचिकर नहीं लगता, मैं तो चाहता हूँ कि तुम्हें जानलूँ, तुम्हें पा लूँ। इसलिये नहीं कि इससे संसारका रहस्य मेरे लिये सरल हो जायगा, वरन् इसलिये कि इससे मेरे अन्तरकी प्यास बुझ जायगी।

तेरे दर्शनके लिये तो मोक्ष स्वयं व्याकुल है। संसार जिस लक्ष्मीको पानेके लिये व्याकुल है, वह तेरी चेरी है। मैं न मोक्ष मांगता हूँ, न ऐश्वर्य। मांगना बुरा होता है, पर मैं सोचता हूँ तेरी चीज तुझसे ही नहीं मांगू तो क्या उन शास्त्रोंके नीरस जंजालसे मांगू ? वे क्या दे सकेंगे ? उनके पास शुष्क वाग्जालके अलावा और कुछ है भी तो नहीं। इस वाणीसे मेरा काम नहीं चलता—देख यह तो रीत जाती है, तेरे वंशीके

निनादके आभास मात्रसे मूक हो जाती है। कोई चाहेगा ऐसे दुर्बल और अपूर्ण माध्यम को ? मैं कहता हूँ—हाथ जोड़कर मांगता हूँ कि मेरी यह सारी वाणी लेले, आज तकके जन्म-जन्मांतरोंसे अर्जित सारी शब्दावली लेले, पर वह गूंज जो दूरसे आ रही है, उसे एक बार स्पष्ट सुनादे। जब तेरी झलक दीखेगी, तो मेरा रोम-रोम वाणी हो उठेगा, उस समय अनिवेदित कुछ भी नहीं रहेगा।

तू तो सागर है, क्षीरसागर, अनन्त और सीमाहीन, तेरे स्पर्श मात्रसे मेरे जन्म-जन्मोंकी तृष्णा शान्तहो जायगी। मैं और निर्मल करूँ ? ठीक है, पर इस शोधनमें कहीं जीवन श्मशानके समर्पित हो गया तो क्या होगा ? फिर, मैं निर्मल होकर आया तो तेरी क्या महिमा रहेगी ? मैं तुझे भेंट क्या करूँगा ? सच कह रहा हूँ वनमाली ! यह सारा पापका टोकरा तुझे देनेके लिये ही तो लादे फिर रहा हूँ।

अर्जुनका रथ तुमने हांका था, उसके घोड़ोंको तुमने मारकर तो महाभारत नहीं रचाया था ? फिर मैं ही इन दुर्दमनीय इन्द्रियोंके अश्वोंको कैसे मार लूं ? इनको मार दिया तो तुम किसकी रास सम्हालोगे ! पर आज ये मेरी नहीं, वासनाओंकी वाहन बन रही हैं, ऐसी दिशामें बेतहाशा भग रही हैं, जिसका कोई लक्ष्य नहीं। मैं यदि तुम्हारे ही समर्पित हूं, तो फिर ये किस अनाम-अपरिचित दिशामें भटका रही हैं। आ जाओ न पार्थसारथी ! कहीं ऐसा न हो कि तुम आनेमें देरकर दो और ये अश्व निष्प्राण हो जाँय ? कामनाओंके मरुस्थलमें भटककर कहीं मैं तुम्हें ही न भूल जाऊं ?

तुम्हारा ही

मुझे है केवल हरिकी चाह

हरे ! मैं आपके चरणयुगलमें इसलिए नमस्कार नहीं करता कि मेरे द्वन्दोंका नाश हो, मैं कुम्भीपाकादि बड़े-बड़े नरकोंसे बचा रहूँ और नन्दनवनमें कोमलांगो अप्सराओंके साथ रमण करूँ, अपितु इसलिए कि मैं सदा हृदय-मन्दिरमें आपकी ही भावना करता रहूँ।

हे भगवन् ! मैं धर्म, धनसंग्रह और कामोपभोगकी आशा नहीं रखता, पूर्वकर्मानुसार जो कुछ होना हो सो हो जाय, पर मेरी बार-बार प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तरोंमें भी आपके चरणारविन्द-युगलमें मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे।

श्रीकृष्ण ! मेरा मानसरूपी राजहंस आपके चरणारविन्दरूपी पिंजड़ेमें आज ही प्रविष्ट हो जाय। प्राण निकलनेके समय जब वात-पित्त और कफसे गला रुंध जायगा, उस अवस्थामें आपका स्मरण कैसे संभव होगा ?

कमलनयन श्रीकृष्ण ! हम हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर, रोमांचित शरीर, गद्-गद् कण्ठ तथा आँसुओंकी धारा बहानेवाले नेत्रोंसे आपकी स्तुति करते हुए नित्य निरन्तर आपके युगल चरणारविन्दोंके ध्यानरूपी अमृतरसका आस्वादन करते रहें,ऐसा हमारा जीवन बन जाय।

—श्रीकुलशेखर आलवार

यह विश्व-यह सृष्टि ब्रह्मसे उद्भूत है। ब्रह्म ही है, जो विभिन्न रूपोंमें, विभिन्न गुणोंसे सृष्टिके कण-कणमें अपनी लीलाका विस्तार कर रहा है। जीवोंमें मनुष्य, जो सर्वश्रेष्ठ है, ब्रह्मका ही प्रतिरूप है। 'ब्रह्म'को प्राप्त करना, 'ब्रह्म'के समान ही दिव्य और आनन्द तथा ज्ञानमय होना ही मानवजीवनका चरम लक्ष्य है। पर इस लक्ष्यकी प्राप्ति किस प्रकार हो? यह एक प्रश्न है। इस प्रश्नका उत्तर 'समत्व' है, और केवल समत्व है।"

ब्रह्म, सृष्टि और जीवपर एक विचार

श्रीकेशवदेव आचार्य

वेदान्त शब्दका अर्थ है वेदका अन्त। अन्त शब्द यहां अन्तस्तम या गूढ़ रहस्यके अर्थमें है। गीताने कहा हैकि समस्त वेदोंका प्रतिपाद्य और ज्ञेय विषय एकमात्र परमात्मा है (सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः)। परन्तु वेदोंमें परमात्माका और उसकी प्राप्तिके साधनोंका यह वर्णन अलंकार और प्रतीकोंके भीतर छिपा हुआ है। उदाहरणस्वरूप एक स्थानपर कहा गया है कि एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं, जिनमेंसे एक उसके स्वादुफलको खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है। दूसरा पक्षी अनीश होनेके कारण मोहवश शोक करता है, किन्तु जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि यह सब उसके साथीकी महिमा है तो वह शोक रहित हो जाता है। यह वृक्षसे अभिप्रेत

है, प्रकृति और उससे बना यह सम्पूर्ण विश्व। गीताने इसे अश्वत्थ कहा है। दो पक्षियोंसे अभिप्रेत है जीवात्मा और परमात्मा। संसारके विषयभोगमें सुखका अनुभव करना शोकका कारण होता है और इससे मुक्तिका कारणहै परमात्माको जानना, और यह अनुभव करनाकि जीव और जगत्‌रूपमें जो कुछ भी है, सब उसकीही महिमाका विस्तार है। इसीप्रकार अन्यत्र कहा गया है कि श्वेत, लाल और काले रंगवाली एक बकरी (अजा) है, जो अनेक प्रकारकी प्रजाको सृष्ट करती है। एक बकरा (अज) उसके भोगमें लिप्त रहता है और दूसरा उसका भोग करके परित्याग कर देता है। यहाँ बकरी (अजा) शब्दसे अभिप्रेत है प्रकृति और बकरा (अज) शब्दसे अभिप्रेत हैं बद्ध और मुक्तजीव। प्रतीकों और अलंकारोंके लबादेके भीतरसे निकालकर उपनिषदोंने वेदके आन्तरिक गूढ़ अर्थको स्पष्ट और सरल भाषामें व्यक्त किया है, इसकारण उन्हे वेदान्त कहा जाता है। उपनिषद् अनेक और बहुविध हैं। उनकी व्यासजीने कुछ सूत्र वचनोंके द्वारा एकवाक्यताकी है। अतः उन्हें वेदान्तदर्शन कहा जाता है। भारतमें जितने भी दार्शनिक सिद्धान्त प्रकट हुए हैं, उन सबका मूल उपनिषद् ही हैं।

वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त यह है कि इस सम्पूर्ण विश्वसृष्टिका मूल है ब्रह्म। इसे वेद में तो एकं, तत्, सत् कहा है। इसकी एक ऐसी स्थिति होती है, जिसमें मानों वह सोया हुआ सा हो। एक समय ऐसा आता है, जब वह इस निद्रासे जागता-सा है और उसे स्वविषयक चेतना होती है और वह यह अनुभव करता है कि मैं अकेला ही हूँ और कुछ भी मेरे सिवाय नहीं है। ऐसी चेतना आनेपर उसमें अपने आपको अनेक रूपोंमें सृष्ट करने का संकल्प उदय होता है।

यहाँ मुख्य दार्शनिक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्ममें यह संकल्प क्यों उत्पन्न होता है कि वह अपने आपको बहुरूपोंमें सृष्ट करना चाहता है। जितनी भी दूसरी दार्शनिक समस्याएँ हैं,उन सबकी एकमात्र यही मूल समस्या है और सबका समाधानइसी एक समस्याके समाधानपर निर्भर करता है। सांख्य योग और न्यायदर्शनोंने कहा है कि सृष्टिका उद्‌देश्य है जीवोंकी मुक्ति। यह समाधान तत्त्व कुछ-कुछ उपयुक्त हो सकता है,जबकि जीव और प्रकृति या जीव, ईश्वर और प्रकृति-ये दो या तीन मूलभूत स्वतन्त्र तत्त्व हों। परन्तु इन्हें स्वतन्त्र मूलभूत तत्त्व माननेपर इतनी भयंकर दार्शनिक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं कि उनका कोई संतोषजनक समाधान इन दर्शनोंकी ओरसे नहीं दिया जा सकता। अतः इन मतोंका परित्याग ही कर देना पड़ता है और अन्ततोगत्वा वेदान्तके अनुसार एक ही तत्त्वको विश्वका मूल कारण माननेपर जीवोंकी मुक्तिके लिये सृष्टि करनेका संकल्प ब्रह्म में नहीं उठ सकता, क्योंकि जीव तो सृष्टिके हो जानेपर ही अस्तित्वमें आते हैं। जब सृष्टि नहीं है और इसलिये जीव भी नहीं हैं, तो उनकी मुक्तिके लिये सृष्टि करना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

कुछ दार्शनिकोंकी ओरसे इस विषयमें यह कहा जाता है कि सृष्टि तो वास्तवमें होती ही नहीं। वह तो अज्ञानी जीवोंको अज्ञानवश प्रतीत होती है। यहां भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि जब सृष्टि हो जायेगी, तभी तो जीव अस्तित्वमें आयेंगे। जब सृष्टि ही नहीं है और इसलिये जीव भी नहीं हैं, तो सृष्टिकी प्रतीति ही किसे और कैसे हो सकती है ? सृष्टि होनेपर जीव हों और जीव होनेपर सृष्टि या सृष्टिकी प्रतीति हो, यह अन्योन्याश्रयता आजाती है। इस कठिनाईसे बचनेकेलिये यह समाधान दिया जाता है कि सृष्टिकी प्रतीति जीवोंको नहीं, अपितु ब्रह्मको होती है। इस समाधानमें पहली कठिनाई यह उपस्थित होती है कि ब्रह्म पूर्णतया निष्क्रिय है। अतः उसमें मिथ्या प्रतीति रूपक्रिया सम्भव ही नहीं है। दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि मिथ्या प्रतीति तब होती है, जबकि प्रतीतिके समयमें ज्ञाताका ज्ञान पूरी तरह अज्ञानके द्वारा आवृत हो जाता है और जिस वस्तुको वह अपने सामने देखता है, उसे सच्चाईके साथ यह मान लेता है कि वही सत्य है। इसके लिये ज्ञाताके ज्ञानको आवृत करनेवाली कोई उसकी अपेक्षा अधिक बलशाली शक्तिको मानना होता है। परन्तु ब्रह्म तो पूर्ण ज्ञानमय है और वही जब एकमात्र तत्त्व है,तो उससे भिन्न दूसरी और उसकी अपेक्षा अधिक बलशाली अन्धकारमयी शक्ति हो ही नहीं सकती, अतः उसे मिथ्या प्रतीति भी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त वेद, उपनिषद् आदिमें जहां भी कहीं सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन आता है, वहां ईक्षण, ज्ञान, ऋत, सत्य, विज्ञान आदि शब्दोंका ही उपयोग किया गया है, कहीं भी अनृत,असत्य, अज्ञानका नहीं। माया शब्दका प्रयोग कहीं-कहीं मिलता अवश्य है, परन्तु वह वैदिक साहित्यमें भगवान्‌की अनन्त ज्ञानमयी दिव्य शक्तिके लिये नहीं। इस मायाको गीताने पराप्रकृति कहा है। विज्ञानमय लोकसे नीचे आनेपर जब उसके आनन्द, चेतना, सत्तारूप गुण सत्त्व, रज, तमका रूप धारणकर लेते हैं, तब इसमें अज्ञानका प्रवेश होता है। तब वह गीताकी भाषामें गुणमयी माया या अपराप्रकृति कही जाती है। नीचेके तीन लोकोंकी सृष्टिमें इसकी क्रिया मानी जा सकती है, ऊपरके चार लोकोंकी सृष्टिमें नहीं। अतः सृष्टिके मूलमें भी नहीं। अतः ब्रह्म अज्ञानवश विश्वकी सृष्टि करता है—इस सिद्धांतको वेद या वेदान्तका चरमसिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त वेद, उपनिषदोंमें दो प्रकारके लोकोंका वर्णन आता है। उनमेंसे एक वे हैं, जिनमें अज्ञान-अंधकार भरा रहता है, दूसरे वे लोक हैं, जहां सदा ज्योति ही ज्योति रहती है। इन लोकोंको प्रकाशमय या ज्योतिर्मय लोक कहा गया है। इन लोकोंके निवासियोंको देवता कहा गया है। इन्द्र, सरस्वती, यम आदि देवता जो कि मनुष्यको ब्रह्मज्ञानके देनेवाले हैं, ऐसे लोकोंके ही निवासी माने जाते हैं। उच्च कोटिके योगी और महर्षि ऐसे लोकोंमें जानेके लिये कठोर तप करते रहे हैं। इन सब लोकोंको अज्ञानकी सृष्टि और इनमें रहनेवालोंको अज्ञानी मानना वैदिक सिद्धान्तके प्रतिकूल है। अतः सृष्टिकी यह व्याख्या वेदके अनुकूल नहीं कही जा सकती।

तब ब्रह्म सृष्टि क्यों करता है ? इसका उत्तर वेदमें यह दिया गया है कि वह महान् है, अतः वह अपनी महिमा का विस्तार करनेके लिये सृष्टि करता है। अपनी अनन्त प्रज्ञाकी आश्चर्यमयी कुशलताको—रचनाके वैचित्र्यको प्रकट करनेके लिये सृष्टि करता है। महिमा शब्दमें महत्ता, वैभव, ऐश्वर्य, आश्चर्य, रचनाकौशलका भाव वैदिक कालमें था। पीछेसे इसमें ऐश्वर्य, वैभवका भाव प्रधान हो गया और आश्चर्य, रचनाकौशलका भाव दब गया। उपनिषदोंमें महिमा शब्दका प्रयोग ऐश्वर्यके अर्थमें किया है, गीतामें विश्वको भगवान्‌का वैभव या विभूति कहा है।

व्यासजीने महिमा शब्दकी वैदिक भावनाके साथ क्रीड़ा और विनोदकी भावनाको मिलाकर सृष्टिका हेतु अपने ब्रह्मसूत्रमें 'लीला' कहा है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार कोई राजा धनधान्य आदि सुखकी सामग्रीसे तृप्त होते हुए भी एक विशेष प्रकारका आनन्द अनुभव करनेके लिये अपने बालबच्चोंके साथ क्रीड़ा किया करता है अथवा जिस प्रकार कोई उच्चकोटिका योगी एक समय अपनी निर्विकल्प समाधिका आनन्द लेता है और दूसरे समय जनक, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, व्यास आदिके समान सक्रिय आनन्द अनुभव करनेके लिये लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है, उसी प्रकार ब्रह्म आनन्दमय होनेके कारण किसी समय अपने निष्क्रिय एकत्वमय स्वरूपका आनन्द लेता है और किसी समय अपनी बहुरूपताका आनन्द लेनेके लिये अपने आपको बहुरूपोंमें प्रकट कर देता है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह एक होते हुए अनन्त भी है। वह निर्गुण होते हुए भी अनन्त गुणोंमें अपने आपको व्यक्त करनेकी शक्ति रखता है। निष्क्रिय होते हुए भी अनन्त प्रकारसे क्रिया करनेकी सामर्थ्य रखता है। वह स्वतंत्र है। हमें अपनी अल्पबुद्धिके डंडेसे ब्रह्मको यह कहनेका अधिकार नहीं है कि तुम एक हो, अनन्त नहीं हो सकते, निष्क्रिय हो, सक्रिय नहीं हो सकते, निराकार हो, साकार नहीं हो सकते, निर्गुण हो सगुण नहीं हो सकते। अतः जब उसकी इच्छा होती है तो वह अपने एकत्वमय और निष्क्रिय स्वरूपका आनन्द लेता है, और जब उसकी इच्छा अपने ब्रह्मत्वमय स्वरूपका आनन्द लेनेकी होती है तो वह अपने आपको अनेक रूपों, गुणों, शक्तियों और क्रियाओंके रूपमें प्रकट कर देता है। ऐसा वह इसलिये नहीं करता कि उसमें कोई कमी है, वह तो पूर्ण है और जिसे वह सृष्ट करता है वह भी पूर्ण ही रहता है। अपितु ऐसा करना उसका स्वभाव है, उसकी लीला है। जिस प्रकार हमने ब्रह्मका लक्षण किया है सच्चिदानन्द, यदि हम इसके साथ-साथ 'लीलामय' शब्दको जोड़कर लीलामय सच्चिदानन्द कहने लगें तो समस्या हल हो जाती है।

दर्शनशास्त्रोंकी सबसे अधिक कठिन दूसरी मूलभूत समस्याका यही सर्वोत्तम और चरम समाधान है, जो वेद और वेदान्तने बतलाया है।

× × × ×

जिस समय ब्रह्ममें स्वविषयिणी चेतना जाग्रत होती है, उसे अपने भीतर अनन्त गुणवली शक्ति दिखायी देती है, इस शक्तिको वैदिक साहित्यमें अदिति और परवर्ती साहित्यमें महाशक्ति कहा गया है। अब वह अपने आपको दो रूपोंमें देखता है। इन दो रूपोंको भारतीय शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न द्वन्दात्मक शब्दोंमें इस प्रकार कहा गया है—परमेश्वर परमेश्वरी, ईश्वर शक्ति, माया-मायी, शिव शक्ति, हर गौरी, महेश्वर महेश्वरी, पुरुषोत्तम पराप्रकृति, जगदम्बा प्रजापति आदि।

सृष्टिका संकल्प होनेपर ब्रह्म अपनी शक्तिके द्वारा अपने आपको सात तत्वों या लोकोंके रूपमें सृष्ट करता है—सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, भू, जिन्हें विपरीत क्रमसे भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य भी कहा गया है। ऊपरके चारों लोकोंमें दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना और दिव्य आनन्द पूर्णतया अभिव्यक्त रहते हैं। अतः इन लोकोंको दिव्य या परार्ध कहा जाता है। नीचेके तीन लोकोंकी सृष्टि होते समय पराप्रकृतिके आनन्द, चेतना और सत्तारूप गुण सत्व. रज और तमका रूप धारण कर लेते हैं और तब वह पराके बजाय त्रिगुणमयी माया या अपराप्रकृति कही जाती है।

इन समस्त लोकोंमें ब्रह्म जीवात्माका रूप धारण करके प्रवेश करता है। ऊपरके चार लोकोंमें प्रकृतिके दिव्य होनेके कारण जीवोंको अपने दिव्य भावकी चेतना रहती है। नीचेके तीनों लोकोंमें तमोगुणके अन्धकारके कारण दिव्य भाव छिपा रहता है।

यहाँ हमारे सामने तीसरा मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पृथ्वीलोकमें जीवात्माका चरमलक्ष्य क्या है? न्याय, सांख्य और योगने मानवजीवनका चरमलक्ष्य—अहंकार, कामना और जन्म-मरणके बंधनसे मुक्ति बतलाया है। मुक्ति निःसन्देह एक ऊँची भूमिका है और प्रत्येक जीवके लिये इसे प्राप्त करना अनिवार्य है, किन्तु इसे चरम लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। यह चरम लक्ष्य कही जा सकती, यदि जीवात्मा अपना पृथक् अस्तित्व रखते। जब ब्रह्म ही जीवात्माके रूपमें आता है तो उसका स्वयं अपने आपको बन्धनमें डालना और फिर मुक्त करना कर्मका प्रयास हो जाता है। यह ऐसा ही है, जैसे कीचड़में पैर डालना और फिर उसे धोना। अत: यहाँ भी चरम समाधान यही हो सकता है कि जीवात्मा ब्रह्मकी लीलामें भाग लेने के लिये यहाँ आता है। वह पहले तम और रजोगुणकी प्रकृतिके भीतर दबा रहता है। वह पूर्ण धैर्यके साथ उसे शुद्ध और सात्विक बनानेका प्रयत्न करता रहता है। हजारों जन्मोंके अनन्तर उसका प्रभाव इतना बढ़ जाता है कि प्रकृति शुद्ध सात्विक हो जाती है और आत्मा अपने स्वरूपमें प्रकाशित होने लगता है। तब यदि उसकी इच्छा केवल मुक्तिकी होती है तो वह पृथ्वीलोकका परित्याग करके चला जाता है और ब्रह्म में लीन हो जाता है या किसी दूसरे लोकमें निवास करता है। यदि उसकी इच्छा भगवान्‌की दिव्यलीलामें भाग लेनेकी होती है तो वह अपनी शक्तिका उपयोग अपनी

प्रकृतिको दिव्य बनानेमें करता है और प्रकृतिके दिव्य होजाने पर उसकी दिव्य लीला में भाग लेता रहता है। फिर चाहे भूलोकमें रहे या किसी दूसरे लोकमें।

ऊपरके चारों लोकोंमें जीवोंकी प्रकृतिके दिव्य होनेके कारण उनके साथ भगवान्‌की लीला सदा दिव्य ही हुआ करती है। नीचेके तीनोंलोकोंमें जो लीला होती है, वह आन्तरिक रूपमें दिव्य ही होती है किन्तु जीवोंकी प्रकृतिमें अज्ञान, अहंकार और विभागकी प्रधानताके कारण उनकी प्रकृति अदिव्य होती है। अतः उनके साथ हुई लीलाको सच्चे अर्थमें दिव्य नहीं कहा जा सकता।

गीता और महाभारतसे पता चलता है कि श्रीकृष्णने अपने समयमें अपने दिव्य भावकी झलक नारद, असित, देवल, व्यास, अर्जुन, भीष्म जैसे कुछ व्यक्तियोंको दिखलायी थी। भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका किसी न किसी रूपमें अनुभव करके भागवत्‌में वर्णन किया जान पड़ता है। श्रीकृष्णके देह परित्याग करके चले जाने पर उन्होंने अपनी लीलाकी झलक अपने भक्तोंको दिखलायी और इस प्रकार यह भाव भिन्न-भिन्न पुराणों और भक्तोंके वचनोंके द्वारा सर्वसाधारणमें फैल गया। वैष्णव-धर्मने पृथ्वीपर भगवान् की लालाको मानते हुए उनकी दिव्य लीलाका धाम वैकुण्ठलोक को ही माना है, पृथ्वीको नही। इसलिये सभी भक्तोंने पृथ्वीका परित्याग करके बैकुण्ठमें जाकर सदाके लिये भगवान्‌का सामीप्य प्राप्त करना मानव जीवनका चरम लक्ष्य बताया है।

वर्तमान युगमें योगिराज श्रीअरविन्दने लीलाके भावको अधिक गहरा और दार्शनिक एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। उनका सिद्धांत जो कि अंशतः आधुनिक विज्ञानसे समर्थित होता है, इस प्रकार है—"पृथ्वीलोकमें जड़तत्वकी प्रधानता है और सब कुछ इसीसे विकसित हुआ है। पृथ्वीके इतिहासमें कभी ऐसा समय था, जब यहाँ वनस्पति, पशु और मनुष्य नहीं थे। कुछ समय पीछे प्राणमय लोकसे प्राणतत्वके अवतरण से और उसकी क्रियाके प्रभावसे जड़तत्वमें श्वास-प्रश्वास लेने, खाने-पीने, सुख-दुःख आदि का अनुभव करनेके लिये जड़ें, तना पत्तियाँ आदि अंग विकसित होगये और वनस्पतिकी सृष्टि होगयी। इसके सहस्रों या लाख वर्षोंके अनन्तर जड़-चेतन मनके अवतरण और उसकी कियाके प्रभावसे वनस्पतिमें खाने-पीनेके मुख, चलने-फिरनेके लिये पैर, देखनेके लिये आँख, सुननेके लिये कान आदि अंग विकसित होगये और गधा, कुत्ता, बिल्ली, बन्दर आदि पशु सृष्ट होगये। इसके सहस्रों वर्षोंके अनन्तर ऐसे मनके अवतरणसे जिसे हम चेतन कह सकते हैं, पशु देहमें अधिक संवेदनशील हाथ, पैर, आँख, कान, मस्तिष्क आदि अङ्ग विकसित होगये और मनुष्यकी सृष्टि होगयी। मनुष्यका यह मन अर्द्धज्ञान और अर्द्ध अज्ञानमय है और उसके पास जो प्राण और शरीर हैं, वे ऐसे ही मनकी क्रियाके लिये उपयोगी हैं, दिव्य मनकी क्रियाके लिये नहीं। इस मनसे भिन्न प्रकारका एक दूसरा मन भी होता है, जो पूर्णतया चेतन और दिव्य होता है। मनुष्यके वर्तमान प्राण और देह इस दिव्य मनकी क्रियाके लिये इसी प्रकार अनुपयोगी हैं, जिस प्रकार कि गधे, बन्दर आदि

पशुओंके हाथ, पैर, गले आदि अंग उस मानव मनकी क्रियाके लिये अनुपयोगी हैं जिसमें खेती, व्यापार करने, चित्रकारी करने, गाना गाने, वायुयान आदिका आविष्कार करनेकी योग्यता है। वे अंग तो मानव देहमें ही हैं।"

श्रीअरविन्दने उस दिव्य मनको विज्ञान कहा है। वर्तमान मानव मनमें और उसमें भेद यह है कि पहला एक क्षणमें एक वस्तुका ज्ञान रखनेकी सामर्थ्य रखता है, दूसरा अनन्त पदार्थोंको एक साथ जाननेकी सामर्थ्य रखता है। मानव मन वाणी, लेखन आदि माध्यमकी सहायतासे दूसरोंके विचारोंको ग्रहण करता है और भेजता है। दिव्य मन बिना किसीभी माध्यमकी सहायताके अपने विचार दूसरों पर भेज सकता है और दूसरोंके ग्रहण कर सकता है। हमारा मन अज्ञानवश दूसरोंके साथ एकता नहीं कर सकता और दूसरोंकी आवश्यकताओंको यथार्थरूपमें नहीं जान सकता। यदि जान भी जाय तो अहंकार और कामनावश उनकी पूर्ति करनेमें अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा सकता। दिव्य मन या विज्ञान पूर्णज्ञानमय और अहंकार एवं कामनासे रहित होनेके कारण दूसरों की आवश्यकताओंको यथार्थरूपमें जान लेता है और उनके साथ तादात्म्य करके उनकी पूर्तिमें वैसा ही आनन्द अनुभव करता है, जसे अपनी निजी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें। हमारा मानव मन परिसीमित और भगवान्से विच्छिन्न होनेके कारण हर्ष,शोक, सुख-दुःख आदिका अनुभव किया करता है, दिव्य मन सर्वदा असीम और भगवान्के साथ युक्त रहने के कारण उनके दिव्य आनन्दसे भरपूर रहता है।

श्रीअरविन्दने बतलाया है—"पृथ्वी लोकके विकासक्रमकी भूमिकाके अनुसार अभी तक इस विज्ञानका अवतरण पृथ्वीपर नहीं हुआ था और वह पृथ्वीपर सक्रिय रूपमें स्थापित नहीं हुआ था।" उन्होंने अपनी सूक्ष्म यौगिक दृष्टिसे देखकर कहा है, 'वर्तमान समयमें अब वह पृथ्वीपर अवतीर्ण हो गया है और मानव जातिके विकासके लिये तीव्र वेगसे क्रिया कर रहा है। इसकी क्रियाके प्रभावसे मनुष्योंके मन, प्राण और शरीर दिव्य हो जायेंगे। जिस प्रकार गधे, कुत्ते, बिल्ली, बन्दर आदिके मन, प्राण, शरीर और उनके व्यवहारसे मनुष्यके मन, प्राण और हाथ, पैर, गला, मस्तिष्क आदि शारीरिक अंग और उनकी क्रियाएँ भिन्न प्रकारकी हैं, इसीप्रकार वर्तमान मनुष्यके मन, प्राणादिसे आगे आनेवाले दिव्य मनुष्योंके मन, प्राणादि भिन्न हो सकते हैं। उनके शरीर रोग, बुढ़ापा, मृत्युसे मुक्त होकर सच्चे अर्थ में अमर हो सकते हैं, जिसप्रकार कि देवताओंके माने जाते हैं।'

हमारे मानव मनका स्वभाव ऐसा है कि वह भूतकालमें जो कुछ हो चुका है,उसके आधारपर आगेकी कुछ घटनाओंकी कल्पनाकर सकता है किन्तु सर्वथा नवीनकी नहीं और निश्चित् रूपमें नहीं। अतः हमारे मनको मानव जातिकी और पृथ्वी लोककी उपर्युक्त संभावनाओंमें अविश्वासका होना स्वाभाविक है। यह ऐसा है, जैसा कि आदिकालीन युगमें वृक्षोंपर वनवासी जीवन व्यतीत करनेवाले बानरकेलिये यह विश्वास करना कठिन था कि

किसी समय पृथ्वीपर ऐसा जन्तु प्रकट हो जायेगा जो खेती, व्यापार, चित्रकारी करेगा, गाना गायेगा, रहनेके लिये मकान बनायेगा, इत्यादि। और वह स्वयं ही वह जन्तु बनेगा, यह कल्पना करना तो उसके लिये और भी कठिन हुआ होगा। इसीप्रकार आजसे एक शताब्दी पूर्व हमारे मनके लिये यह कल्पना करना प्रायः असम्भव था कि भौतिक विज्ञान के मानव बुद्धिमें अवतरणसे मनुष्य ऐसे यन्त्रोंका आविष्कारकर लेगा कि जिनकी सहायता से वह सहस्रों मील दूरी पर बैठे मनुष्योंको देख सकेगा, उनके साथ बातचीत कर सकेगा, क्षणभरमें अपने समाचार उनके पास भेज देगा और उनके ग्रहण कर लेगा। ऐसे हवाई घोड़ेका आविष्कार कर लेगा कि जिसपर बैठकर एक घन्टेमें हजारोंमील दूरीपर उड़कर जा सकेगा। यदि यह सब सम्भव हो गया है और हमने इसमें विश्वासकर लिया है तो अध्यात्मविज्ञानके मानवमन, प्राण और शरीरमें अवतरणसे भावी युगकेलिये उपर्युक्त संभावनाओंमें विश्वास करनेमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। हमारे शास्त्रोंमें योगियोंमें अनेक प्रकारकी मानसिक और शारीरिक सिद्धियोंका होना माना गया है। अनेक मनुष्योंके अमरदेह (चिरजीवी) होनेकी भावनाभी प्रसिद्ध है। जितनी शक्तियाँ मनुष्योंने अभी तक प्राप्तकी हैं, उनसे अधिक शक्तियाँ भी हो सकती हैं, जिन्हें मनुष्य भावी युगमें प्राप्त करलें। यह भी संभव है कि जिन सिद्धियोंको इक्के दुक्के मनुष्यों ने प्राप्त किया था, वे अधिक मनुष्योंको प्राप्त हो जाएँ और फिर सर्वसाधारणको प्राप्त हो जाएं। जिस प्रकार कि किसी युगमें वायुयान केवल राम या रावण जैसे एक दो को ही प्राप्त था, आज वह सर्वसाधारणकेलिये सुलभ हो गया है। विकासकी प्रक्रिया को एकबार ठीक प्रकारसे समझ लेनेपर यह मान लेनेमें भी हमारे लिये कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि जिसप्रकार कुछ बन्दरोंके मानव मन, प्राण और देहके प्राप्तकर लेनेपर उनकी सन्तान मानवमन, प्राण और देहवाली ही होती है, इसीप्रकार कुछ मनुष्योंके अध्यात्मविज्ञानके प्रभावसे दिव्य मन, प्राण और शरीरके प्राप्त कर लेनेपर उनकी सन्तान भी वैसे ही दिव्यमन, प्राण और शरीरवाली हो और इसप्रकार पृथ्वीपर एक सर्वथा नवीन देव जातिकी सृष्टि हो जाए।

भगवान्की मनुष्योंके साथ जो पृथ्वीपर अभी तक लीला हुई है, वह कुछ-कुछ इसप्रकारकी कही जा सकती है, जैसे किसी पहलवानका रोगी या बालकसे कुश्ती लड़ना। पहलवान अपने सदृश बलवालेसे दावपेच खेलनेमें जो हर्ष अनुभव कर सकता है, वह रोगी या बालकके साथ खेलनेमें नहीं। अतः भगवान्की वास्तविक दिव्य-लीला जैसी कि वह वैकुण्ठलोकमें नित्य हुआ करती है, पृथ्वीपर तभी हो सकती है जब कि उपर्युक्त प्रकारके दिव्य मन, प्राण और शरीरवाले मनुष्य, जिन्होंने कि अपने मन, प्राण और शरीरमें भी भगवान्के सादृश्यको प्राप्त किया है—न केवल अपने आत्मा में—पृथ्वीपर प्रकट हो जायें। तब मनुष्यको भगवान्के दिव्य आनन्दको प्राप्त करनेके लिये पृथ्वीका परित्याग करके यहाँसे बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि उस समय

मनुष्य देवता, मानव जाति देवजाति और पृथ्वी लोक दिव्य लोकके रूपमें परिणत हो जायेंगे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वेद या वेदान्तका पहला चरम सिद्धान्त यह है कि इस संपूर्ण चराचर विश्वका मूल कारण है ब्रह्म। दूसरा चरम सिद्धांत यह है कि वह अपनी सक्रिय अनन्तताका आनन्द अनुभव करनेके लिये अपने आपको अनन्त प्रकारके विभिन्न रूपों, गुणों और शक्तियोंके रूपमें व्यक्त करता है और उनके भीतर विचित्र प्रकारसे लीला किया करता है। तीसरा चरम सिद्धान्त यह है कि पृथ्वीपर जीवात्मा इसलिये भेजा जाता है कि वह ब्रह्मके साथ अपना तादात्म्य करके अपने आपको अज्ञान, अहंकार, कामना आदिके बन्धनसे मुक्त करके अपने मन, प्राण और शरीरको दिव्य बनाये और उनके द्वारा उसकी दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्दको अधिकाधिक अभिव्यक्त करते हुए मानव जातिको देवजाति और पृथ्वीको दिव्यलोकके रूपमें परिणत करनेके लिये उसकी दिव्यलीलामें सदा भाग लेता रहे।

दूसरे शब्दोंमें यह सम्पूर्ण विश्व उस नटवरकी ऐसी नाट्यशाला है, जिसमें वह अपना दिव्य तांडवनृत्य सदा किया करता है। वह ऐसा रंगीला अभिनेता है कि वह स्वयं ही रंगभूमि है, वही भिन्न-भिन्न जीवोंके रूपमें अभिनयका पात्र है और द्रष्टा है, वही स्वयं अभिनय भी है। वही सूत्रधार है,वही कठपुतली है, वही द्रष्टा है। वह कूटस्थ स्थाणु होते हुए रसमय भी है और संपूर्ण विश्व उसकी रसमय लीला, रासलीला है।

मनुष्य रूपमें देवता

जो द्विज, देवता, अतिथि, गुरु, साधु, और तपस्वियों के पूजनमें संलग्न रहनेवाला नित्य तपस्या परायण, धर्म एवं नीतिमें स्थित, क्षमाशील, क्रोधजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, लोभहीन प्रियबोलनेवाला, शान्त, धर्मशास्त्र प्रेमी, दयालु, लोकप्रिय, मिष्टभाषी, वाणीपर अधिकार रखनेवाला, सब कार्योंमें दक्ष, गुणवान्, महाबली, साक्षर, विद्वान्, आत्मविद्या आदिकेलिए उपयोगी कार्योंमें संलग्न, घी और गायके दूध-दही आदिमें तथा निरामिष भोजनमें रुचि रखनेवाला, अतिथिको दान देने और पार्वण आदि कर्मोंमें प्रवृत रहनेवाला है, जिसका समय स्नान-दान आदि शुभ कर्म, व्रत, यज्ञ, देवपूजन तथा स्वाध्याय आदिमें ही व्यतीत होता है, कोई भी दिन व्यर्थ नहीं जाने देता, वही मनुष्य देवता है।

जो मनुष्य जितेन्द्रिय, दुर्गुणोंसे मुक्त, तथा नीतिशास्त्रके तत्त्वको जानने वाला है और ऐसे ही नानाप्रकारके गुणोंसे संतुष्ट दिखाई देता है वह देवस्वरूप है।

स्वर्गका निवासी हो या मनुष्यलोकका जो पुराण और तन्त्रमें बताये हुए पुण्यकर्मों का स्वयं आचरण करता है, वही इस पृथ्वीका उद्धार करनेमें समर्थ है।

[पद्मपुराणसे]

संतों और महात्माओंने ही अपनी भक्ति और साधनासे उस ईश्वरके 'रहस्य' का उद्‌घाटन किया है, जो चारों ओर सर्वत्र व्याप्त होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। संतों और महात्माओंने ही उस 'पथ' पर प्रकाश भी डाला है, जिस पर चलकर मनुष्य ईश्वरको प्राप्त कर सकता है या उसे समझ सकता है। इसीलिए तो संत, महात्मा और आचार्य ईश्वरके समान ही पूज्य भी माने जाते हैं।

आचार्य निम्बार्क

श्रीआचार्य गणपति

भारतीय धर्म-साहित्यमें वैष्णव धर्मका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैष्णव धर्म का अखंड प्रवाह भारतके कोने-कोनेमें परिव्याप्त है। वैष्णव धर्ममें एक से एक बढ़कर ऐसे संत और महात्मा हुए हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति, अनुभूति और सरस वाणियोंसे भारतीय जनताके हृदयको धर्मके अमृत-रससे अभिषिक्त कर दिया है। आज भारतमें जो आलोक है, जो जीवन है, और है शक्तिका जो अखंड प्रवाह, वह इन्हीं संतों और महात्माओंकी साधनाओंका परिणाम है। इन संतों और महात्माओं ने जीवनके दीपको आलोकित करने के लिए, अपनी अस्थियोंको तपा-तपा कर स्नेह निकाला है। कौन है, जिसका मस्तक इन संतों और महात्माओंके त्यागसे उल्लसित चरणोंपर पुष्पके समान बिखरनेके लिए लालायित न होगा!

वैष्णव धर्म अपने चार प्रवाहोंमें भारतके कोने-कोने की धराको अभिषिक्त कर रहा है। उन्हींमें एक प्रवाहका नाम है निम्बार्क मत-प्रवाह। इसीको हम निम्बार्क-सम्प्रदाय भी कहते हैं। आचार्य निम्बार्कने अपनी अखंड प्रतिभा और साधना शक्तिसे परम्परागत इस मतको समुज्वल ही नहीं बनाया, वरन् उसके केतुको भारतके कोने-कोनेमें फहरा दिया; परिणाम स्वरूप इस मतके साथ आचार्य निम्बार्कका नाम ही संश्लिष्ट हो गया और तभी से यह मत निम्बार्क सम्प्रदायके नामसे लोक-प्रसिद्ध हो उठा।

निम्बार्क सम्प्रदाय द्वैताद्वैत भावनाओंपर आधारित है—"ब्रह्म सर्व शक्तिमान् है, पर ब्रह्मका सगुण भाव ही मुख्य है। जगत्के रूपमें परिणत होनेपर भी ब्रह्म निर्विकार ही रहता है। जगत्से अतीत रूपमें ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म ही जगत् की स्थिति, सृष्टि और लयका कारण है। जगत् केवल एक परिणाम है, जो परिणामी ब्रह्मके प्रतिफलस्वरूप है। जीव ब्रह्मका ही अंश है। सृष्टिका प्रयोजन इसलिए है कि जीव भगवान्की प्रसन्नताको प्राप्त करे। जीवके संपूर्ण दुखोंका विनाश भगवान्की प्राप्तिसे ही हो सकता है। जीव जब जगत् के साथ अपनी और ब्रह्मकी अभिन्नताका अनुभव करता है, तभी उसे मुक्ति प्राप्त होती है। इसका उपाय केवल भक्ति है। भक्तिसे ही भगवान्की प्राप्ति होती है। सद्गुणों और सदाचारके मार्गपर चलते हुए जब भगवत्कथा या भगवान्के गुणोंको सुननेकी इच्छा प्रगट होती है, तब मुमुक्षुपुरुष सद्गुरुकी शरण ग्रहण करता है। सद्गुरुके उपदेशोंद्वारा ही भक्तिका उद्रेक होता है।"

निम्बार्क-सम्प्रदायके मूलमें अन्तर्निहित उक्त भावनाएँ युगोंसे भारतीय जनताको अनुप्राणित कर रही हैं। आचार्य निम्बार्कने अपनी साधना और कृष्णोपासनाके सौन्दर्य-रस पयोधिमें डूबकर उक्त भावनाओंके रत्नकी खोज की। उन्होंने शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म-तत्वका अन्वेषण करके, उसे सगुण भक्तिके सूत्रमें पिरोया और इस प्रकार ब्रह्म, जगत् और जीवनका तादात्म्य स्थापित किया। आचार्य निम्बार्कने दक्षिणसे लेकर उत्तर तककी संपूर्ण जनताको अपनी क्रान्तिकारी, नवीन और प्रेरणादायी भावनाओंसे प्रभावित किया। भारतीय जनताने हृदय और प्राणोंमें उनके प्रेरक संदेशोंको ग्रहण किया। आज भी उनके प्रेरक संदेश कोटि-कोटि भारतीय जनताको अनुप्राणित कर रहे हैं।

आचार्य निम्बार्कको कुछ लोग सूर्य का और कुछ लोग भगवान्के प्रिय आयुध सुदर्शन चक्रका अवतार मानते हैं। आचार्य का आविर्भाव किस समय हुआ था—इस सम्बन्धमें निश्चयात्मक रूपसे कुछ कहना कठिन है। भक्तोंके मतानुसार आचार्य निम्बार्कका आविर्भाव त्रेताके अन्त और द्वापरके प्रथम चरणमें हुआ था। किन्तु इसके प्रतिकूल कुछ विद्वानोंका कथन है कि उनका आविर्भाव विक्रमकी पांचवी शताब्दीमें हुआ था। कोई-कोई उनके आविर्भावका समय विक्रम की ग्यारहवीं और बारहवीं शतीके बीचका समय बताते हैं। खोजसे पता चलता है कि आचार्य निम्बार्क का जन्म विक्रमकी ग्यारहवीं और बारहवीं शतीके मध्यमें हुआ था।

आचार्य निम्बार्कके जन्म स्थान और उनके माता-पिताके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। किसी-किसी का कथन है कि आचार्यका जन्म दक्षिण भारतके विलारी जिलेके निम्बापुर नामक गाँवमें हुआ था। अधिकांश लोगोंका मत यह है कि आचार्यने दक्षिणके काशी-वैदुर्य पत्तनमें जन्म ग्रहण किया था। आचार्यके पिताका नाम अरुणि मुनि और माताका नाम जयंतीदेवी था। कोई-कोई आपके पिताका नाम श्रीजगन्नाथ भी बताते हैं। आचार्यके माता-पिता बड़े अध्यात्मवादी और भक्ति-भाव सम्पन्न थे। स्वाभाविक ही था कि उनके आध्यात्मिक जीवनका प्रभाव आचार्यके बालहृदय पर पड़ता। बाल्यावस्थामें ही आचार्यका हृदय आध्यात्मिक भावालोकसे आलोकित हो उठा था।

आचार्यका बाल्यावस्थाका नाम नित्यानन्द था। आचार्य ने बाल्यावस्थामें शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार ग्रहणकी-इस सम्बन्धमें कुछ विशेष पता नहीं चलता। कहा जाता है कि नारदजी ने स्वयं प्रगट होकर उनके उपनयन संस्कारको सम्पन्न कराया था। नारदजी ने ही उन्हें 'गोपाल' मंत्र की दीक्षा देनेके साथ ही साथ श्रीकृष्णकी उपासनाकेलिये प्रेरणा भी प्रदान की थी।

आचार्यने फिर जीवनमें किस प्रकार प्रवेश किया और फिर कब वे गृहत्यागकर व्रजमें आये—इस सम्बन्धमें भी कहीं कुछ निश्चयात्मक उल्लेख नहीं मिलता। पर यह तो निश्चित् है कि दक्षिण से उनका आगमन व्रज में हुआ। यों तो उन्होंने संपूर्ण व्रज की यात्रा की, पर गिरिराज गोवर्द्धनके निकट ध्रुव क्षेत्रको ही उनकी साधना और तपस्या-भूमि होनेका गौरव प्राप्त हुआ। ध्रुव-क्षेत्रमें आचार्यने भगवान् श्रीकृष्णकी अखंड साधना की। व्रजके कोने-कोनेमें उनकी ज्योति फैल गई। व्रजकी जनताके हृदयमें, उनके साधनामय पूतजीवनके लिए श्रद्धाका सागरसा उमड़ पड़ा।

उन्हीं दिनों एक विचित्र घटना घटी। एक दिन एक निकटवर्ती स्थानसे एक दंडी महात्मा, आचार्यके दर्शनार्थ उनके संमुख उपस्थित हुए। दोनों महान्पुरुष मिले और परस्पर शास्त्रकी चर्चा छिड़ गई। चर्चामें इतने तन्मय हो उठे कि सुधि-बुधि न रही, और सायंकाल होगया। दण्डी महात्माओंका यह नियम है कि वे सूर्यास्तके पश्चात् भोजन नहीं ग्रहण करते। शास्त्र-चर्चा समाप्त होनेके पश्चात् आचार्यने जब यतिजी से भोजन ग्रहणकरनेकी प्रार्थना की, तो उन्होंने असमर्थता प्रगटकी। क्योंकि उस समय सूर्यास्त हो चुका था।

आचार्यके लिए यह चिन्ताका प्रश्न था। कोई सन्यासी अतिथि उनके आश्रममें बिना भोजन ग्रहण किए रात्रि व्यतीत करे-आचार्यका कोमल हृदय व्याकुल हो उठा। अतः उन्होंने अपनी पुण्य साधनाकी शक्तिसे आश्रमके समीप ही नीमके वृक्षपर, सूर्यास्तके पश्चात् भी सूर्यको अवस्थित करके सूर्यकी आभा प्रगट कर दी। कोई कह नहीं सकता कि

वह सूर्यकी आभा थी, या उनके आराध्य श्रीकृष्णका सुदर्शनचक्र था, जिसकी ज्योति नीम के वृक्षपर झिलमिला रही थी।

यतिजीके भोजन ग्रहणके पश्चात् सूर्यकी वह दिव्य आभा पुनः विलीन होगई। बस इस घटनाके पश्चात् ही आचार्य 'निम्बार्क' या निम्बादित्यके नामसे विख्यात् हुए। यह घटना आचार्यके जिस आश्रममें घटित हुई थी, वह आज भी उसी घटनाके कारण 'निम्ब ग्राम' के नामसे प्रसिद्ध है।

इस घटनाके पश्चात् ही आचार्यकी कीर्ति-लता पल्लवित हो उठी और वे स्वयं श्रीकृष्णकी भक्तिके प्रचारमें तन्मय हो गए। उन्होंने चारों ओर श्रीकृष्णकी भक्तिका प्रचार किया और उनकी उपासनापर बल दिया। श्रीमद्भागवत ग्रन्थकी मान्यता उन्होंने प्रतिष्ठित की और श्रीमद्भागवत ग्रन्थानुमोदित प्रेम-भक्तिके प्रचार-प्रसारमें स्तुत्य योग प्रदान किया।

आचार्य निम्बार्कने तीर्थोंकी यात्राएँ भी की। नैमिषारण्य और बदरिकाश्रमको भी उन्होंने अपनी उपस्थितिसे धन्य बनाया। ब्रजके अतिरिक्त नैमिषारण्य और बदरिकाश्रम के समीपवर्ती प्रदेशोंको भी उन्होंने अपनी भक्ति-सुधासे अभिषिक्त किया।

आचार्य निम्बार्कके दो ग्रन्थ मिलते हैं—वेदान्त सौरभ, और वेदान्त कामधेनु दश श्लोक। यह दोनों ग्रंथ वेदान्त सूत्रों पर भाष्य हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य द्वारा और कई ग्रंथ लिखे बताए जाते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—गीता भाष्य, कृष्णस्तव राज, गुरु परम्परा, वेदान्त तत्वबोध, वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप, स्वधर्माध्वबोध, ऐतिह्य तत्त्व सिद्धान्त और राधाष्टक आदि।

आचार्यकी शिष्यपरम्परामें उनके कई शिष्य हो चुके हैं, जिन्होंने आचार्य द्वारा प्रवर्तित भक्तिके प्रचार-प्रसारमें स्तुत्ययोग प्रदान किया है। इन शिष्योंमें श्री निवासाचार्य, श्रीदेवाचार्य, श्री सुन्दर भट्टाचार्य, श्री ब्रजभूषण देवाचार्य, श्रीकेशव भट्टाचार्य, श्री हरिव्यास, श्री रसिकदेव और श्री हरिदास आदि मुख्य हैं। आचार्यकी शिष्य परंपराके आचार्योंकी यह मुख्य रूपसे विशेषता रही है कि उन्होंने परस्पर एक दूसरे के मतका खंडन नहीं किया है। प्रायः सभी आचार्योंने अपने ग्रंथोंमें अद्वैतमत का खंडन और द्वैताद्वैत मतका प्रतिपादन किया है।

आचार्य अवतारी महापुरुष थे। उनकी निम्नांकित वाणियोंमें उनके अवतारत्व और महापुरुषत्वकी ही गूँज मिलाती है—

'जीव ज्ञानस्वरूप है, वह भगवान् श्रीहरिके आधीन है। उसमें एक शरीरको छोड़कर दूसरे नूतन शरीरको ग्रहण करनेकी योग्यता है। वह प्रत्येक शरीरमें भिन्न, अणु, ज्ञानयुक्त और अनन्त बताया गया है।

'जीवको अनादि मायासे संयुक्त माना गया है। भगवान्‌की कृपासे ही उसके स्वरूप का ज्ञान होता है। जीवोंमेंसे कुछ नित्य मुक्त हैं, कुछ बद्ध हैं और कुछ पहले बन्धनमें रहकर पीछे भगवत्कृपासे मुक्त होगये हैं, ऐसे जीवोंकी बद्धमुक्त संज्ञा है। इसप्रकार जीवोंके बहुतसे भेद जानने चाहिये।

'जो उन्हीं श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके वामांगमें प्रसन्नतापूर्वक विराजमान होरही हैं, जिनका रूप-शील-सौभाग्य अपने प्रियतमके सर्वथा अनुरूप है, सहस्रों सखियाँ जिनकी सेवाकेलिए उद्यत रहती हैं, उन सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको देनेवाली देवी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाका हम सदा स्मरण करें।

'श्रुतियों और स्मृतियोंसे यह सिद्ध है कि संपूर्ण वस्तुएँ ब्रह्मस्वरूप हैं। इसलिए सारा विज्ञान यथार्थ है—यही वेदवेत्ताओंका मत है। एकही ब्रह्म चित्, अचित् एवं इन दोनोंसे विलक्षण ब्रह्मस्वरूपसेही त्रिविधरूपोंमें स्थित है। यह बातभी श्रुतियों तथा ब्रह्म-सूत्रो द्वारा सिद्ध कीगई है।

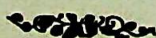
'जिनमें स्वभावसे ही समस्त दोषोंका अभाव है तथा जो समस्त कल्याणमय गुणोंके एक मात्र समुदाय हैं, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चारों व्यूह जिनके अङ्ग-भूत हैं तथा जो सर्वश्रेष्ठ परब्रह्मस्वरूप हैं, उन पापहारी कमलनयन श्रीकृष्णका हम चिन्तन करें।

'अज्ञानान्धकारकी परम्पराका नाश करनेके लिए सब लोगोंको सदा इस युगलस्वरूप की निरन्तर उपासना करनी चाहिए, सनन्दनादि मुनियोंने संपूर्ण तत्वोंके ज्ञाता नारदजीको यही उपदेश दिया था।

'ब्रह्मा, शिव आदि देवेश्वर भी जिनकी वन्दना करते हैं, जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार परमसुन्दर एवं चिन्तन करने योग्य लीलाशरीर धारण करते हैं, जिनकी शक्ति अचिन्त्य है तथा जिनके अभिप्रायको उनकी कृपाके बिना कोई नहीं जान सकता, उन श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंके सिवा जीवकी दूसरी कोई गति नहीं दिखाई देती।

'जिसमें दीनता और अभिमान शून्यता आदि सद्गुण होते हैं, ऐसे जीव पर भगवान् श्रीकृष्णकी बिशेष कृपा होती है, जिससे उसके हृदयमें उन सर्वेश्वर परमात्मा के चरणोंके प्रति प्रेमलक्षणाभक्तिका उदय होता है। वही उत्तम एवं साध्य भक्ति है। उससे भिन्न जो भक्तिके अन्य प्रकार हैं, वे सब साधन भक्तिके अन्तर्गत हैं।

'उपासनीय परमात्मा श्रीकृष्णका स्वरूप, उनके उपासक जीवका स्वरूप, भगवान्‌की कृपाका फल, तदनन्तर भक्ति रसका आस्वादन तथा भगवत्प्राप्तिके विरोधी भावका स्वरूप-श्रेष्ठ साधकोंको इन पाँच वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।



महाप्रभुवल्लभाचार्यजी द्वारा प्रवर्तित 'पुष्टिमार्ग' ने श्रीकृष्ण-भक्तिके प्रचारमें जो योग प्रदान किया, उसी का यह सुफल है कि आज 'श्रीकृष्ण' नाम जन-जनके प्राणोंका महामंत्र बन गया है। महाप्रभुके इस सदुद्योगसे भारतीय जीवन, लोक, और राष्ट्रको अपरोक्ष रूपमें जो 'जीवन' प्राप्त हुआ है, उसका यश-गान शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता। उसके लिए ब्रज ही नहीं, समस्त भारत महाप्रभुका चिरऋणी है।

पुष्टिमार्गीय दर्शन और ब्रज संस्कृति

श्रीप्रभुदयाल मीतल

पुष्टिमार्गीय दर्शन 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है। इस दार्शनिक सिद्धांतके मूल-प्रवर्त्तक श्रीविष्णुस्वामी नामक एक प्राचीन आचार्य थे, किन्तु इसे व्यवस्थित और परिष्कृत रूपमें विकसित करनेका श्रेय श्रीवल्लभाचार्यजी और उनके सुपुत्र श्रीविट्ठलनाथ जीको है। वे दोनों धर्माचार्य वैष्णवधर्मके सुविख्यात भक्ति-सम्प्रदाय पुष्टिमार्गके क्रमशः प्रवर्त्तक एवं प्रमुख प्रचारक थे और विक्रमकी १६वीं शतीके उत्तरार्ध तथा १७वीं शतीके पूर्वार्धमें विद्यमान थे। उनके द्वारा प्रचारित दार्शनिक सिद्धांतके नाममें 'अद्वैत' के साथ 'शुद्ध' शब्द इसलिए जोड़ा गया है, ताकि इसे सर्वश्रीशंकराचार्य और रामानुजाचार्यादिके सिद्धांतोंसे पृथक् समझा जा सके। शंकराचार्यने ब्रह्मको अद्वैत मानतेहुए उसके अतिरिक्त

सब कुछ माया अर्थात् मिथ्या माना है, इसलिये उनके अद्वैतवादमें ब्रह्मके साथ मायाकी भी मान्यता है। रामानुजाचार्यने अद्वैत ब्रह्मको चिन्मय आत्मा और जड़ प्रकृतिसे विशिष्ट बतलाया है। वल्लभाचार्यने पूर्वोक्त आचार्योंके मतके विरुद्ध ब्रह्मके शुद्ध स्वरूपका प्रतिपादन किया है, इसलिए उनका सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है, जबकि शंकराचार्य और रामानुजाचार्यके सिद्धांत क्रमशः 'केवलाद्वैत' और 'विशिष्टाद्वैत' कहे गहे हैं। अन्य आचार्योंके दार्शनिक सिद्धांत 'प्रस्थानत्रयी'—वेद, गीता और ब्रह्मसूत्रपर आधारित हैं, किंतु पुष्टिमार्गीय सिद्धांतमें उन तीनोंके साथ भागवतको भी सम्मिलित कर 'प्रमाण चतुष्टय' की मान्यता है।

भारतवर्षके विविध धर्माचार्योंने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धांतोंमें ब्रह्म, जीव और जगत्के स्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए उनके संबंधमें विभिन्न मत प्रकट किये हैं। पुष्टि-मार्गीय शुद्धाद्वैत दर्शनके अनुसार परब्रह्मके आधिदैविक स्वरूपको 'पुरुषोत्तम', आध्यात्मिक स्वरूपको 'अक्षरब्रह्म' और भौतिकस्वरूपको 'जगत्' कहते हैं। परब्रह्म अपनी अनन्त शक्तियोंके साथ निरंतर अपने आपमें आंतररमण करता है, इसलिए इसे 'आत्माराम' भी कहा जाता है। जब परब्रह्मको बाह्य प्रकारसे रमण करनेकी इच्छा होती है, तब अपने आनन्द धर्मोंवाले दिव्य आधिदैविक 'पुरुषोत्तम' रूपसे कृष्णके रूपमें प्रकट होकर अपनी शक्तियोंके साथ बाह्य रमण करता है। श्रीस्वामिनी, चन्द्रावली, राधा आदि पुरुषोत्तम कृष्णकी आधिदैविक शक्तियाँ हैं, जिनसे अनंत भावरूपी सखी-सहचरियाँ प्रकट होती हैं। इन शक्तियोंके साथ क्रीड़ा करनेकेलिए पुरुषोत्तम कृष्ण अपनेमें से गोकुल, वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना आदिको भी प्रकट करते हैं। ये सब परब्रह्म पुरुषोत्तमके ऐश्वर्य रूप होनेसे चैतन्य हैं, फिर भी कृष्ण-लीलाकेलिए इन्होंने जड़ता धारण कर रखी है। गीता, भागवत आदि ग्रन्थोंमें परब्रह्मके जिस भव्य स्वरूपका प्रतिपादन हुआ है, वह भक्तिका विषय होनेसे ज्ञान-क्रिया-विशिष्ट, साकार और सगुण है। यही पुरुषोत्तम कृष्ण हैं।

श्रीवल्लभाचार्यका कथन है, परब्रह्म कृष्ण ही सत्, चित् और आनन्द रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं। वही ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूपसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि समस्त कार्योंको सम्पन्न करते हैं, "परब्रह्म तु कृष्णोहि सच्चिदानन्दकं बृहत्। जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः। देवता रूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः।" श्रीकृष्ण समस्त गुणोंसे युक्त हैं। उनका दिव्य रजोगुण ब्रह्मारूपसे सृष्टि करता है, दिव्य सतोगुण विष्णुरूपसे सबकी रक्षा करता है और उनका दिव्य तमोगुण रुद्ररूपसे संहार भी करता है। अपनी आनंदमयी नित्य और दिव्य लीलाओंका औरोंको प्रकट ज्ञान करानेकेलिए साक्षात् पुरुषोत्तम कृष्ण सारस्वत कल्पमें ब्रजमें अवतरित हुए थे। पुरुषोत्तमके आविर्भावसे उनका समस्त लीला परिवार और उनके लीलास्थल भी गोप-गोपियों एवं वृंदावन-गोवर्धन आदिके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। इसप्रकार समस्त व्रजमण्डल कृष्णरूप हो गया था। तभी इस भूतलकी सामग्री पुरुषोत्तम कृष्णके भोग्य योग्य हो सकी थी। भक्ति और उपासनाकेलिए आचार्यजीने इन कृष्णकोही

सर्वोपरि देवता स्वीकार किया है, क्योंकि उनके मतानुसार कृष्णसे बढ़कर वस्तुत: कोई भी दोषरहित देवता नहीं है, "कृष्णात् परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ।"

शुद्धाद्वैत सिद्धांतके अनुसार परब्रह्म कृष्ण सर्व धर्मोंके आश्रयरूप हैं, अतः वे 'धर्मी' कहलाते हैं । उनमें परस्पर विरुद्ध धर्म भी साथ-साथ रहते हैं, यही उनकी विशिष्टता और विचित्रता है । वल्लभाचार्यजीने बतलाया है, प्रकृतिजन्य सत्, रज, तम गुणोंके अभावमें परब्रह्म कृष्ण जिस प्रकार 'निर्गुण' हैं, उसी प्रकार आनन्दादि दिव्य गुणोंके होनेसे 'सगुण' भी हैं । इसी तरह वे निराकार होते हुए भी साकार हैं । वे अणु भी हैं, और महान्से भी महान् हैं । वे सर्वतंत्र-स्वतंत्र होते हुए भी भक्तके आधीन हैं । इस प्रकार परब्रह्म कृष्ण विरुद्ध धर्मोंके आश्रयरूप हैं, अतः 'कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम सर्व-भवन-समर्थ' हैं । वे भक्तोंको अपने इस रूपका अनुभव कराकर जगत्में निःसीम माहात्म्य प्रकट करते हैं । उनकी इस विशिष्टता और विचित्रताके मानने पर ही वेदादिमें वर्णित ब्रह्मके निर्गुण-सगुण और निराकार-साकार रूपकी प्रतिपादक श्रुतियोंका मतैक्य हो सकता है । इस प्रकार पुष्टिमार्गीय संप्रदायके दार्शनिक सिद्धांतमें वेद, वेदान्त और पुराणादि धर्मग्रन्थोंकी एक वाक्यता प्रमाणितकी गई है । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस सिद्धांतसे ब्रज संस्कृति पूर्णतया प्रभावित हुई है ।

पुष्टिमार्गीय सिद्धांतके अनुसार जगत् परब्रह्मका भौतिक स्वरूप है । वल्लभाचार्यजी का कथन है, भगवान् श्रीहरि अपने सतधर्मसे अट्ठाईस तत्त्व रूपमें जगत्स्वरूप होते हैं, "अष्टाविंशति तत्वानां स्वरूप यत्र वै हरिः ।" इस प्रकार भगवत्-कृति जन्य और भगवत् स्वरूपात्मक होनेके कारण जगत् भी ब्रह्मके समान ही सत् है, जैसे कर्त्ता और 'कारण' की समान स्थिति होती है । शंकराचार्यकी भाँति वल्लभाचार्यने जगत्को असत् अथवा मिथ्या नहीं माना है । साधारणतया 'जगत्' और 'संसार' समानार्थक शब्द माने जाते हैं, किंतु पुष्टिमार्गीय दर्शनके अनुसार इनमें भारी भेद है । जगत् ब्रह्मरूप होनेके कारण सत्य है, किंतु संसार मायाग्रस्त जीवके अविद्या-अज्ञानादिसे माना हुआ 'मैं' और 'मेरेपन' की कल्पना मात्र है, इसलिए यह असत्य है । वल्लभाचार्यका कथन है, जहाँ कहीं पुराणोंमें जगत्को मायारूप मिथ्या कहा गया है, वहाँ उसका अभिप्राय वस्तुतः वैराग्यभावको उत्पन्न करना है । जब भगवत्-अनुग्रह से विद्या-ज्ञानके उदय होनेपर जीव मुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है, तब उसके 'संसार' (अविद्या-अज्ञानादि) का अंत हो जाता है, किंतु जगत् प्रपंच फिर भी बना रहता है । प्रलयकालमें जब भगवान् आत्मरमण करनेकी इच्छा करते हैं, तब भी जगत्का नाश नहीं होता है, वरन् उसका 'तिरोभाव' होता है, अर्थात् वह अपने मूल स्वरूप परब्रह्ममें उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार घटके टूट जाने पर उसके भीतरका आकाश बृहद् आकाशमें समा जाता है । जगत्का यह आविर्भाव और तिरोभाव एक मात्र भगवान्की इच्छापर आधारित है । 'जगत्' और 'संसार' का यह भेद शुद्धाद्वैत सिद्धान्तकी विशेषता है । पुष्टि संप्रदायके अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदायमें इस प्रकारका भेद नहीं किया गया है ।

पुष्टिमार्गीय दर्शनकी इस पृष्ठभूमिमें जब हम ब्रज संस्कृतिके स्वरूप पर विचार करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि इसपर उक्त दार्शनिक सिद्धांतका यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। इस संबंधमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जो भगवान् श्रीकृष्ण ब्रज संस्कृतिके सर्वस्व हैं, उन्हींको केन्द्रबिन्दु मान कर श्री वल्लभाचार्यजीने पुष्टिमार्गीय दर्शन और भक्ति-तत्व के सांप्रदायिक वृत्तका निर्माण किया है। उन्होंने अपने दार्शनिक और धार्मिक सिद्धांत का सार-तत्व एक ही श्लोक में बतलाते हुए कहा है —

" एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतं, एको देवो देवकीपुत्र एव ।
मंत्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा" ।।

— श्रीकृष्णकृत गीता ही एक मात्र शास्त्र है, कृष्ण ही एक मात्र आराध्यदेव हैं, कृष्णका नाम ही एक मात्र मंत्र है और कृष्ण-सेवा ही एक मात्र कर्तव्य है। इस प्रकार उन्होंने पुष्टिमार्गीय दर्शन और वल्लभसंप्रदायमें उस कृष्णोपासनाको सर्वोपरि स्थान दिया, जो ब्रज संस्कृतिका मूल तत्व और ब्रजकी धार्मिक भावनाकी परंपरागत मूल चेतना रही है।

पुष्टिमार्गीय दर्शनका ब्रज संस्कृतिपर गहरा प्रभाव होनेका एक प्रमुख कारण और भी है। यह सर्व विदित तथ्य है कि श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने दार्शनिक सिद्धांत को व्यावहारिक रूप प्रदान करनेके लिए जिस पुष्टिमार्गकी स्थापनाकी थी, उसका समारंभ उन्होंने ब्रजमंडलसे ही किया था। पुष्टि संप्रदायके इतिहास से ज्ञात होता है कि श्री वल्लभा-चार्यजीने सं० १५५० की श्रावण शुक्ला ११ को ब्रजके गोकुल नामक स्थानके गोविंद-घाट पर 'पुष्टिमार्ग' की स्थापनाकी थी और इसकी प्रारंभिक मंत्र-दीक्षा उन्होंने अपने वरिष्ट सेवक दामोदरदासको दी थी। इसके साथ ही पुष्टिमार्गके सर्वप्रधान सेव्यस्वरूप श्रीनाथजीका प्राकट्य ब्रजके गोवर्द्धन ग्रामकी गिरिराज पहाड़ीसे हुआ था।

जैसा पहिले कहा गया है, पुष्टिमार्गीय दर्शनके अनुसार परब्रह्मका आधिदैविक स्वरुप 'पुरुषोत्तम' है। उन्होंने द्वापर में कृष्णके रूपमें अवतार धारणकर ब्रजमें अनेक लीलाएँ की थीं। पुष्टि संप्रदायकी मान्यता है कि अनवतार दशामें वही पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण श्रीनाथजीके रूपमें ब्रजमें प्रकट हुए हैं। श्रीनाथजीका स्वरूप परब्रह्म कृष्णकी बाल्य-किशोर अवस्थाका, और गिरिराज – धारण करनेके भाव का है। उनकी ऊर्ध्व भुजा इसी भाव की सूचकहै, अतः इन्हें 'गिरिधर' अथवा 'गोवर्द्धननाथ' कहा जाता है। श्रीकृष्णकी तरह श्रीनाथजीको भी गायें अत्यंत प्रिय हैं, अतः इन्हें 'गोपाल' भी कहा गया है। वल्लभसंप्रदायकी यह भी मान्यता है, जिस दिन गिरिराज पहाड़ीपर श्रीनाथजीका प्राकट्य हुआ था, उसी दिन उनकी रक्षाके लिए गोवर्द्धनके विविध स्थानोंसे चतुर्व्यूह भी प्रकट हुए थे। उनमेंसे गोविंददेव नामक वासुदेव व्यूह गोविंदकुन्डसे, संकर्षणदेव नामक

संकर्षण व्यूह संकर्षण कुंडसे, दानीराय नामक प्रद्युम्न व्यूह दानघाटी से और हरिदेव अनिरुद्ध व्यूह श्रीकुंड से प्रगटे थे।

श्रीनाथजीके बाद पुष्टिमार्गके आठ सेव्य स्वरूप और हैं, जिनके नाम १. श्रीनवनीतप्रियजी, २. श्रीमथुरेशजी, ३. श्रीविट्ठलनाथजी, ४. श्रीद्वारकाधीशजी, ५. श्रीगोकुलनाथजी, ६. श्रीगोकुलचन्द्रमाजी, ७. श्रीमदनमोहनजी और ८. श्रीबालकृष्णजी हैं। श्रीनाथजी सहित वे स्वरूप श्रीकृष्णके विशिष्ट रूपोंके प्रतीक नवनिधि रूप हैं। श्रीवल्लभाचार्य जीके समयसे लेकर अब तक ये वल्लभसंप्रदायके सर्वमान्य सेव्य स्वरूप रहे हैं। यहाँपर यह उल्लेखनीय है कि अन्य सम्प्रदायोंकी देव मूर्तियोंकी तरह इन्हें 'मूर्ति' न कहकर 'स्वरूप' कहा जाता है। वल्लभसंप्रदायी भक्तजन इनकी सेवा साक्षात् कृष्णका स्वरूप मानकर करते हैं। श्रीआचार्यजीने उक्त स्वरूपोंके अतिरिक्त गिरिराज (पहाड़ी) और यमुना (नदी) की भी बड़ी महिमा बतलाई है। फलतः वल्लभसम्प्रदायमें श्रीगिरिराजजी और यमुनाजीको भी सेव्य स्वरूप माना जाता है। श्रीगिरिराजजी भगवान् श्रीकृष्णके सखा और श्रीयमुनाजी उनकी पटरानी एवं पुष्टि शक्तिके रूपमें उपास्य और सेव्य हैं। पुष्टिमार्गीय दर्शनसे प्रभावित और वल्लभसंप्रदायकी उपासनासे अनुप्राणित उक्त समस्त देव स्वरूपोंकी भक्ति और सेवाने ही व्रज संस्कृतिके वर्तमान रूपका निर्माण किया है और विविध अंगोंकी सम्पुष्टि की है।

श्रीवल्लभाचार्यजीने पुष्टिमार्गीय 'सेवा' के दो प्रकार बतलाये हैं—१. क्रियात्मक सेवा और २. भावात्मक सेवा। क्रियात्मक सेवा भी दो प्रकारकी बतलाई है—१. तनुजा और २. वित्तजा। अपने आप तथा स्त्री, पुत्र,कुटुम्बादि द्वारा की गई शारीरिक सेवाको 'तनुजा' कहते हैं, जब कि धन-संपत्ति तथा उनसे सम्बन्धित समस्त साधनोंसे की गई सेवा 'वित्तजा' कहलाती है। इस प्रकारकी सेवाओंसे जीवकी अहंता-ममता नष्ट होकर भक्ति की दृढ़ता होती है। भावात्मक सेवा मानसी है, जिसे आचार्यजीने सर्वोत्तम बतलाया है। इसे भगवान्में चित्तको सर्वरूपेण प्रवण करनेसे ही किया जा सकता है और इसकी सिद्धि-तनुजा-वित्तजा प्रकारवाली क्रियात्मक सेवाके अनन्तर ही होती है। इसलिए पुष्टिमार्गीय सेवामें क्रियात्मक सेवापर विशेष बल दिया गया है।

पुष्टिमार्गीय सेवाके दो क्रम हैं—१. प्रातःकालसे सायंकाल पर्यन्तकी 'नित्योत्सव सेवा' तथा २. बारह महीनों और छहों ऋतुओंकी 'वर्षोत्सव सेवा'। आचार्यजीने पुष्टिमार्गकी गुरु व्रजकी गोपियोंको माना है, अतः उन्हींकी प्रेम-भावनाके अनुसार उन्होंने पुष्टिमार्गीय सेवाविधिका निर्माण किया है। नित्योत्सवकी सेवा-विधिमें वात्सल्यभावकी प्रधानता है। मातृभाव स्वरूपा व्रजांगनाओंने श्रीकृष्णके प्रति वात्सल्य स्नेहसे प्रेरित होकर उनकी परिचर्या प्रातःकालके जागरणसे सायंकालीन शयन पर्यन्त की थी। नित्योत्सवकी सेवामें आचार्यजी ने व्रजांगनाओंकी उसी भावनाको चरितार्थ किया है। नित्योत्सवकी सेवामें आठ समयके

उत्सव होते हैं। इन्हें १. मंगला, २. शृङ्गार, ३. ग्वाल, ४. राजभोग, ५. उत्थापन, ६. भोग, ७. संध्या-आरती और ८. शयन कहा जाता है। इनसे प्रातःकालसे सायंकाल पर्यन्त कृष्ण-सेवामें मन लगा रहता है।

वर्षोत्सवकी सेवा-विधिमें द्वादश मास एवं षट्ऋतुओंके उत्सवों, अवतारोंकी जयंतियों, लोक त्यौहारों और वैदिक पर्वोंका समावेश किया गया है। इनसे आचार्यजी ने आसक्तिरूप स्वकीय प्रेम-भावना तथा ब्रह्मभावनाका कृष्ण-सेवामें विनियोग कर दिया है।

श्रीविट्ठलनाथजीने पुष्टिमार्गीय सेवा-विधिका विस्तार करते हुये अत्यन्त भव्य और कलात्मकरूप प्रदान किया था। पुष्टिमार्गीय सेवाके तीन प्रमुख अंग हैं,जिन्हें शृङ्गार, भोग और राग कहा गया है। इन्होंने व्रज संस्कृतिको बड़ा प्रभावित किया है, अतः इनके संबंधमें कुछ विस्तारसे बतलानेकी आवश्यकता है।

१. शृङ्गार—ठाकुरजीके वस्त्राभूषण और उनकी साज-सज्जाको 'शृङ्गार' कहते हैं। वल्लभाचार्यजीके समयमें श्रीनाथजीके शृङ्गारके केवल दो उपकरण 'पाग' और 'मुकुट' थे। विट्ठलनाथजीने उनका विस्तारकर दो के स्थानपर आठ उपकरण प्रचलित किये थे। वे आठों उपकरण—१. मुकुट, २. सेहरा, ३. टिपारा, ४. कुल्हा, ५. पाग, ६. दुमाला, ७. फेंटा और ८. पगा (ग्वाल पगा) हैं। ये आठों उपकरण ठाकुरजीके श्रीमस्तकके शृङ्गार हैं। इनके साथ ही ठाकुरजी और स्वामिनीजीके मस्तक, मुख, कण्ठ, हस्त, कटि, चरणादिके अनेक शृङ्गार किये जाते हैं। इनमें बहु-संख्यक आभूषणोंका उपयोग किया जाता है। श्रीठाकुरजी और स्वामिनीजीके आभू-षणोंके साथ उनके विविध भाँतिके वस्त्रोंकी भी व्यवस्थाकी गई है, जो ऋतुओंके अनुसार बदलती रहती है। जैसे शीतकालमें भारी, मोटे वस्त्र तथा रुईके गद्दल आदि होते हैं और उष्णकालमें हलके, पतले तथा झीने वस्त्रादि। इन वस्त्राभूषणोंको किस प्रकार धारण कराया जाय, इसका एक सुनियोजित क्रम निर्धारित किया गया है। मुकुटकी लटक किस ओर हो, इसका भी एक निश्चित् विधान है। ठाकुरजीकेसाथ ही मन्दिरकी साज-सज्जाकेलिए पर्दे, पिछवाई आदिका भी आवश्यक प्रबन्ध किया गया है। इस साज-सज्जामें भी ऋतुओंके अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

२—भोग—खान-पानादिके विविध पदार्थोंको सुन्दर और शुद्धरूपमें प्रस्तुत कर उन्हें ठाकुरजीके समर्पण करनेको 'भोग' कहते हैं। श्रीविट्ठलनाथजीने भोगका भी विस्तार करते हुए पचासों भोज्य पदार्थोंका ठाकुरजीकी सेवामें विनियोग कर एक ऐसी समुन्नत पाककलाको जन्म दिया, जो इस संप्रदायकी उल्लेखनीय विशेषता रही है। पुष्टि सम्प्रदाय की पाककलाका पूरा वैभव कुनवाड़ा, अन्नकूट और उनसे भी बढ़कर छप्पनभोगकी

झांकियोंमें दिखलाई देता है। यदि बिट्ठलनाथजी उनकी व्यवस्था न करते, तो आज बीसों प्रकारकी भोज्य सामग्रियोंके बनानेकी विधि ही लुप्त हो गई होती।

३. राग—ठाकुरजीकी सेवामें रागका स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। रागमें गायन करनेसे मन शीघ्र ही एकाग्र होता है, इसलिए इसे निरोधका साधन माना गया है। श्री वल्लभाचार्यजीने श्रीनाथजीकी सेवाके आरम्भिक दिनसे ही उनके 'कीर्तन'के रूपमें राग के गानकी व्यवस्थाकी थी। श्रीबिट्ठलनाथजीने 'राग'के विस्तारकेलिए श्रीनाथजी की आठों झांकियोंमें उनकी लीला-भावनाके अनुसार समय और ऋतुके रागों द्वारा कीर्तन करनेका आयोजन किया था। उसके लिए उन्होंने अष्टछापकी स्थापनाकी थी। अष्टछाप के आठों कीर्तनकारों द्वारा जिस विशाल पद साहित्यका निर्माण हुआ, उसने ब्रजके संगीत और साहित्यको अनुपम समृद्धि प्रदानकी है।

इस प्रकार पुष्टिमार्गीय दर्शन और उससे अनुप्राणित वल्लभसंप्रदायने ब्रजसंस्कृति के विविध अंगोंको बड़ा प्रभावित किया है। आज ब्रजसंस्कृतिकीजो शोचनीय दशा दिख-लाई देती है, उसका एक कारण यह भी है कि उसे प्रेरणा देनेवाले पुष्टिमार्गकी स्वयं ह्रासोन्मुखी अवस्था होगई है।



वल्लभ वाणी

'अहंता-ममताके नाश होनेपर मैं कुछ भी नहीं करता, इस प्रकार संपूर्ण अहंकारसे निवृत्त होनेपर जीवात्मा जब अपने स्वरूपमें स्थित अर्थात् आत्मज्ञानमें निष्ठावान् होता है, तब वह जीव कृतार्थ (मुक्त) कहा जाता है।

'श्रीकृष्णकी सेवा निरन्तर करते रहना चाहिये, उसमें मानसी सेवा सबसे उत्तम मानी गई है।

'पूर्ण रूपसे चित्तको प्रभुमें तल्लीन कर देना ही सेवा है। उसकी सिद्धिकेलिए तनुजा (शरीरसे) एवं वित्तजा (धनसे) प्रभुकी सेवा करनी चाहिये। यों करनेपर जन्म-मरणके दुःखोंकी निवृत्ति और ब्रह्मका बोध होता है।

'ब्रह्मसे सम्बन्ध हो जानेपर सबके देह और जीव सम्बन्धी सभी दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। दोष पांच प्रकारके होते हैं—सहज, देशज, कालज, संयोगज और स्पर्शज। सहज दोष वे हैं, जो जीवके साथ उत्पन्न होते हैं। देशज देशसे, कालज कालके अनुसार उत्पन्न होते हैं; संयोगज संयोगके द्वारा और स्पर्शज वे हैं जो स्पर्शसे प्रकट होते हैं। ब्रह्मसे सम्बन्ध हुए बिना इन समग्र दोषोंकी निवृत्ति कभी नहीं होती।

'जिन्होंने प्रभुको आत्म-निवेदन कर दिया है, उन्हें कभी किसी प्रकारकी भी चिंता नहीं करनी चाहिये। पुष्टि (कृपा) करनेवाले प्रभु अंगीकृत जीवकी लौकिक (संसारी मनुष्योंकी सी आवागमनशील) गति नहीं करेंगे।

—महाप्रभु वल्लभाचार्य

'शिव' का अर्थ है कल्याण। 'कल्याण' कई रूपोंमें-सुख शांतिकी अभिवृद्धि, मलका विनाश, और परमानन्दरूप कैवल्यकी प्राप्ति। शिवोपासनाका यही उद्देश्य है। 'महाशिवरात्रि' इसी उद्देश्यकी पूर्तिकेलिए हमें 'शिवो-पासना'की ओर बढ़नेकेलिए प्रेरणा देती है।

मंगलेश्वर शिव

श्रीप्रह्लादराय व्यास 'साहित्य सुधाकर'

ग्यारह रुद्रोंमें प्रथमरुद्रका नाम शिव है। शिवका अर्थ है मंगल एवं कल्याणकर्त्ता। शिव समस्त जीवधारियोंके हृदयमें स्थित हैं तथा ज्योतिरूप हैं।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्ठिनारं ज्ञात्वां शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥

शिव सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं तथा हृदय गुफामें विराजमान हैं। समस्त विश्वकी रचना करनेवाले तथा अनेक रूप धारण करनेवाले हैं और जो सारे विश्वको घेरे हुए है, उस कल्याणरूप शिवको जानकर मनुष्य सदा स्थायी रहनेवाली शांति प्राप्तकर लेता है, क्योंकि शान्ति और सुख सभी चाहते हैं परन्तु शान्ति और सुख इस विश्वारण्यमें न होकर मानव के अन्तरमें है। आन्तरिक सतसंग करनेसे ही शांतिकी प्राप्ति सम्भव है। जिस प्रकार समुद्रमें गोता लगाने पर मोती मिलते हैं, उसी प्रकार हृदयरूपी सरोवरमें गोता लगानेपर शांतिरूपी मोती मिलते हैं। कबीरने लिखा है—

जिन ढूंढा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।
जो बौरा डूबन डरा रहा किनारे बैठ॥

संत कबीरके इस दोहेका रहस्य संसारक वैभवसे विमुख हो स्वयं को पहिचानना है। स्वयं के अन्दर जो शक्ति है, जिसे शिव कहते हैं, जिसे चेतना कहते हैं, जिससे मनुष्य जीवित रहता है, उसे पहिचानना, उसे प्राप्त करना ही सुख है। वही शिवकी प्राप्ति है। मनुष्य को शिव कहते हैं। जब मनुष्यमें स्थित शक्ति निकल जाती है तो वह शव रह जाता है और लोग उसे फूंक देते हैं श्मशान भूमिमें।

मानव पैदा होता है, संघर्ष करता है, धन इकट्ठा करता है पर वह साथ नहीं चलता। धनमें सुख नहीं मिलता। हम सब धन इकट्ठा करनेमें लगे हैं और आत्मदर्शन अथवा शिवकी उपासना नहीं करते। आवश्यकतासे अधिक धनको प्राथमिकता प्रदान कर देने के फलस्वरूप समाजमें विषमता फैल गई है और उपासनाके लिए, शिवकी प्राप्तिके लिए, लोगोंमें श्रद्धा और विश्वास नहीं रहा है। सुखकी यदि व्याख्या करने बैठें तो एक चीज हमारे लिए सुख है, तो दूसरी चीज हमारे लिए दुःख हो सकती है। और जो चीज हमारे लिए सुख है, वह दूसरोंके लिए दुःख हो सकती है, तो फिर जिस प्रकार शिव(सुख) मिले वही प्रयत्न करना चाहिए। हम दिन भर मेहनत करके थक जाते हैं और रातमें आरामके लिए सोते हैं। अच्छी नींद आई तो आराम मिलता है, अन्यथा स्वप्न आते हैं और आराम नहीं मिलता, हमें हमारी खोई हुई शक्ति नहीं मिलती। किसी प्रकारकी पीड़ा है तो गहरी नींद नहीं आती, तो हम कहते हैं कि नींद नहीं आई अतः तबियत खराब हो गई। इससे स्पष्ट होता है कि अन्तरमें गोता लगाये बिना परेशानी दूर नहीं होती। अन्तरमें गोता लगानेसे ही शिव एवं सुखकी प्राप्ति निश्चित है।

अब प्रश्न यह उठता है कि शिवकी प्राप्ति कैसे की जाये? ऐसा कौनसा तरीका है जिससे सरलता युक्त थोड़े समयमें ही हम लक्ष्यको प्राप्त करलें। किस तरह हम गोता खांय विचार करनेपर स्पष्ट होगा कि प्रातःकाल तीन बजकर पच्चीस मिनटपर शिव काल प्रारम्भ होता है, इसीलिए इसे ब्रह्ममुहूर्त कहते हैं। इस कालमें प्रकृतिकी ओर से पुरुषको शक्ति प्रदान करने हेतु द्वार खोल दिये जाते हैं। कैसा भी तेज बुखार हो, इस कालमें रोगी को पीड़ा नहीं रहती, अतः प्रातःकाल उठकर ध्यान करने से शिवकी प्राप्ति सम्भव है, बशर्ते हम नियमित रूपसे निश्चित स्थानपर निश्चित समयमें बैठकर उपासना करें। भगवान् बहुत नजदीक हैं। वह सर्वदा हमारे पास हैं, सिर्फ हमें उनक पास बैठने की जरूरत है। शिवका ध्यान करते समय मन सांसारिक विचारोंसे बिल्कुल परे होंना चाहिए। ब्रह्म मुहूर्तमें ध्यान करनेपर कल्याण निश्चित है। ध्यान करनेसे मन स्वतः स्थिर हो जाता है क्योंकि यह काल सतोगुण प्रधान है अतः यदि साधक इस समयमें उपासना करे तो उसे लक्ष्यकी प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। चिड़ियोंकी चहचाहट प्रारम्भ होनेपर और ज्यों-ज्यों सूर्य निकलने लगता है, त्यों-त्यों सतोगुण के परमाणु समाप्त होने लगते हैं और रजोगुण आने लगता है और ध्यान नहीं जमता। अंग्रेजी भाषा में भी कहावत है :—

Early to bed and early to rise;
Makes a man healthy, wealthy and wise.

अर्थात् जल्दी सोने और जल्दी उठने से धन, स्वास्थ्य. एवं बुद्धिमिलती है, अतः ब्रह्म मुहूर्त ही ध्यानका सुन्दर समय है। प्रकृति माता इस कालमें स्वयं मुदित हो अपने बच्चोंपर सारी चीजें न्यौछावर करती है और आलस्यहीन भाग्यशाली बालक उन्हें प्राप्त करते हैं। अनन्त वैभव, सुख शान्ति इस कालमें आकाश मण्डलसे हमारे पास आती है।

सूर्योदयके समय निकलते हुए सूर्यके अरुण किरणजाल को कई दिनों तक एक टक से देखना चाहिए। सूर्यास्त के समय भी इसी प्रकार अरुण किरणजाल देखना चाहिए। इस प्रकार लगभग एक माह अभ्यास करना चाहिए। फिर ब्रह्म मुहूर्तमें अन्धकारमें बैठ कर उसी अरुण प्रकाश का ध्यान करना चाहिए और ऐसा करनेसे शीघ्र ही प्रकाशरूप शिवकी अनुभूति होने लगेगी। अन्धकारसे ही प्रकाश सम्भव होता है, इसीलिए महर्षि अरविन्द ने कहा है :=

Life is like a photography which can be developed best in the darkness.

जीवन एक फोटोग्राफीके सदृश है, जो अन्धकार में बैठकर विकसित किया जा सकता है। जो व्यक्ति प्रातःकाल नहीं उठ सकते, उनके लिए सन्ध्याकाल है। इस काल में भी उपासना करके शिवकी अनुभूति की जा सकती है, स्वकल्याण किया जा सकता है। दिन में अधिकतर बायां सुर चलता है और रातमें दायां, परन्तु सन्ध्या सवेरे सन्धिकालमें सुषुम्ना का स्वर चलता है, जो कि ज्ञानप्राप्तिका मुख्य मूलद्वार है। यदि दोनों ही कालमें उपासना की जाय तो कहना ही क्या है। जो व्यक्ति अरुण किरणजाल पर अभ्यास करने में असुविधा अनुभव करते हों तो उन्हें उत्तर दिशा की ओर मुंह करके उपासना करनी चाहिए और आज्ञा चक्र (दोनों भौओंके बीच का स्थान) में जलते हुए घृतके दीपककी मध्य लौ के प्रकाशकी धारणा एवं ध्यान करना चाहिए और जिनका कोई गुरु हो तो उन्हें अपने गुरूका ध्यान करना चाहिए, क्योंकि गुरुकी उपासना ही शिवकी उपासना है। गुरु चरणोंका ध्यान प्रयाग स्नान है "गुरु चरण ध्यान योगः प्रयागः"। धी नाम बुद्धि का है यान का अर्थ नियंत्रण है अतः ध्यान का अर्थ चित्तकी चंचलता रोकना और बुद्धि को नियंत्रित करना है।

हमारे मस्तिष्कके बीचके स्थानको सहस्रार कहते हैं। इस स्थानमें एक त्रिकोण कर्णिका है, जिसके बीचमें प्रकाश एवं परमात्मारूपी सदाशिव तेजोमय श्वेतवर्णको लिए विराजमान हैं। ध्यान करनेसे जीवात्मा अपने कल्याण हेतु सदैव आर्तदशामें इस परमशिव की परिक्रमा करता है, जैसे आरती उतार रहा हो। यही कारण है कि ध्यानकी अवस्था परिपक्व होनेपर यहाँ हमें हर समय घंटा शंखआदिके नाद की अनुभूति होती है। जैसा शिव लिंग हमें शिव मदिर में दिखता है, वैसा का वैसा नक्शा हमारे मस्तिष्कके इस भाग का अन्दर से है। हमारे महर्षियोंने योगके अनुभवोंके आधारपर अज्ञानी एवं जड़ बुद्धि के लोगों के लिए ही शिवलिंगका आविष्कार किया है। शिवलिंगकी पूजा भारत में अति प्राचीन है। शिव के ऊपर टपक-टपक कर घड़े से जल गिरता है। उसी प्रकार मस्तिष्क से चन्द्ररस, सोमरस टपकता है जिससे साधक को अमृत पान का आनन्द आता है।

जो व्यक्ति ध्यान नहीं कर सकते, उनके लिए "ह्रीं" बीजका जप करना श्रेष्ठ है, जिसका अर्थ है—हे महाशिव, हे महाशक्ति आप दोनों मेरी रक्षा एवं कल्याण कीजिये। इस बीज मंत्रका जप यदि उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते जागते शुद्ध-अशुद्ध मानव करता रहे तो यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि वह जीवनमें सबसे बड़ा और महान् यज्ञ कर डालेगा, जिससे उसके जन्म-जन्मान्तरके पाप नष्ट हो जायेंगे। जप मानसिक करना चाहिए। समस्त चेतना शक्तिको आज्ञा चक्रमें स्थित करके जप करना चाहिए।

शिवको महेश्वर अर्थात् सबसे बड़ा ईश्वर कहते हैं। क्योंकि भगवान् शिव त्यागी हैं। त्यागमय जीवन ही सच्चा जीवन है। भगवान् विष्णुको स्वर्ग चाहिए रहनेको तो शिव श्मशानमें ही डेरा डालते हैं। विष्णुको पीताम्बर चाहिए तो शिव बाघम्बर ही पहिन लेते हैं। विष्णु सच्चे मालका भोग लगावें तो शिव आक धतूरा, खाकर ही निर्वाह करते हैं। तात्पर्य यह है कि शिवकी आवश्यकताएं बहुत कम हैं जो मानवको शिक्षा देती हैं कि सुखी जीवन बनानेके लिए आवश्यकताएं सीमित होनी चाहिए तथा त्यागमय जीवन रखना चाहिए।

वस्तुतः देशको संकटकालीन परिस्थितियोंसे बचानेके लिए मानवको शिव बनना होगा। शिव स्वयं विषपान करते हैं पर दूसरोंको अमृतपान कराते हैं, स्वयं कष्ट झेलते हैं, दूसरोंको सुख देते हैं। यही कारण है कि भगवान् शिव मंगलेश्वर हैं,कल्याणकारी हैं। इस संकटसे घिरे सामुदायिक विकास युगमें समुदायका विकास तभी संभव है, जब प्रत्येक व्यक्ति साक्षात् शिव बने। जो पत्नी पतिके साथ रहते हुए भी संयमसे रहती है, वही साक्षात् उमा है और जो पुरुष संयमसे रहता है, वह शिव है। संसारमें तीन चीजें अति दुर्लभ हैं मनुष्यत्व, मुमुक्षत्व, संत संश्रय और तीन चीजें ही विनाशकारी हैं लोकेष्णा, पुत्रेष्णा, और वित्तेष्णा और तीन चीजें ही विकासकारी हैं कर्म, ज्ञान और उपासना। यदि कोई सुखासनसे बैठकर ध्यान करना शुरू करदे तो अष्टांगयोग स्वतः ही आ जाता है। स्थिर होकर बैठना जरूरी है। फिर ध्यान, समाधि, अभ्यासकी जरूरत है और सबसे अधिक जरूरत है भगवान्के नजदीक बैठनेकी आँखें बन्द करके। आँखोंसे व संयमहीनता से ही हमारी शक्तिका ह्रास होता है, इसीलिए तो हमारे बुजुर्गोंने कहा है कि सदा जमीन पर देखकर चलना चाहिए, जिसका रहस्य यह है कि पृथ्वीकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति हमारी शक्ति नहीं खींच पाती, दृष्टि दोष भी नहीं होता। हमारे पांवोंसे कीट भी नहीं मरते और सर्प आदि भयंकर जानवरसे भी बच जाते हैं और अभिमान भी मरता है। शिवको प्राप्त करनेके लिए अभिमानको समाप्त करना परमावश्यक है। भगवान् शिव समाज, देश एवं प्रत्येक प्राणीका कल्याण करें,यही प्रार्थना है।

—•—

नश्वर कायाके भीतर एक अमर व्यक्तित्व है——चैतन्य सत्ता है। वह जागृत होता है कर्मयोगसे—निरासक्त कर्मकी साधनासे। जो मनुष्य कायाकी नश्वरता और चैतन्यसत्ताको दृष्टिमें रखकरके ही जीवनकी लकीरें खींचता है, जगत्में वही वन्दनीय होता है, वही पूजनीय होता है।

एक पुराय पुरुष
स्वर्गीय श्रीद्वारिकानाथ भार्गव

श्रीचैतन्य

जीवन एक बूँदके सदृश है। पर पानीकी उस बूँदके सदृश नहीं, जो धरतीपर पड़तेही पलक मारते ही विनष्ट हो जाती है, वरन् उस बूँदके सदृश, जो धरतीपर गिर कर, यदि महासागर नहीं, तो विशाल सरिताका रूप अवश्य धारण कर लेती है। वस्तुतः ऐसा ही 'जीवन' सार्थक है, ऐसा ही 'जीवन' जीवन भी कहा जानेके योग्य है। संसारमें जो कुछ है, वह सब विनष्ट हो जानेके लिए ही है, मिट जानेके लिए ही है। संसारमें धन्य वही है, गेय वही है, जो अपने पौरुषसे, अपनी कर्मठतासे संसारकी नश्वरताको अमरताके रूपमें परिवर्तित कर देता है। भगवान् श्रीकृष्णने 'गीता' में जीवनकी इसी अमरताकी ओर स्पष्ट रूपसे संकेत किया है—

"जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जो मर गया है, वह अवश्य ही जन्म लेगा। इसलिये हे अर्जुन, तुझे इस अमिट या न टलने वाली बात पर शोक करना उचित नहीं।"

फिर प्रश्न है कि किसकी चिन्ता करनी चाहिए ? कर्मठताके लिए, जीवनकी अमरता के लिए; दूसरे शब्दोंमें ऐसे अमर चिह्न बनानेके लिए, जिससे जीवनकी बूंद-एक विशाल महासागरका रूप धारण कर सके, जिससे 'जीवन' जो एक छोर है, समष्टिमें फैलकर अनन्त को ढक सके ! स्वर्गीय द्वारिकानाथ भार्गव ऐसे ही पुण्य पुरुषोंकी श्रेणीमें एक थे। वे जब तक धरती पर रहे, सतत जीवनको समष्टिके प्यालेमें घोलते रहे, जनकल्याणके लिए कर्मठताकी आगमें तपते रहे। उन्होंने कभी 'स्व' के लोभसे कुछ नहीं किया, जो कुछ किया, 'पर' के लिए किया, लोकहिताय ही किया। उनके जीवनपथ पर बार-बार दुरूहताएं आईं, बार-बार विघ्न-बाधाओंके शैल खड़े हुए, पर वे सदा हँसते-मुस्कराते हुए कर्मठता के मार्ग पर चलते रहे। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे ही पुण्य चरित पुरुषोंकी निम्नांकित श्लोकमें सराहना की है—

दुःखेष्वनुद्विग्न मनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधिर्मुनिरुच्यते ॥

जो दुःख पड़नेसे मनमें दुखी नहीं होता, जो सुखके समय सुख भोगनेकी इच्छा नहीं करता, जो किसी चीजसे प्रीति नहीं रखता, जिसे किसीसे भय नहीं है और जो क्रोधरहित है, वह महात्मा स्थिर बुद्धि कहा जाता है।

स्वर्गीय श्रीद्वारिकानाथ भार्गवजीकी नश्वर कायामें एक महान् व्यक्तित्व था। उसमें विचारोंकी दृढ़ता थी, संकल्पोंकी अजेयता थी। उसमें त्याग था, लोककल्याणके लिए उत्सर्गकी भावना थी। उनका उदार और त्यागपूर्ण व्यक्तित्व उनकी कायाके भीतरसे बोलता रहता था। उनकी विशाल आकृति, उनकी गंभीर मुखमुद्रा और उनकी तेजोदीप्त आँखोंके भीतरसे उनका कर्मठ व्यक्तित्व ही झाँकतासा रहता था। जो भी उनसे मिलता, उनसे बात-चीत करता, उनके पूतविचारोंके प्रभावमें आये बिना न रहता। उन्होंने अपने भीतर अपने अन्तर आँगनको पूततासे खूब सजाया था, खूब सँवारा था। उन्होंने अपनेको-अपने अन्तर्जगत्को ईश्वरार्पण कर दिया था। वे जो कुछ करते थे, अपनेको ईश्वरका एक अनुचर मानकर ही करते थे। वे जिस ओर बढ़ते थे, ईश्वरकी अटूट शक्तिको अपने साथ मानकर बढ़ते थे। ईश्वरका दृढ़ विश्वास उनके प्रत्येक कार्यमें-प्रत्येक-पगमें होता था। यही कारण था कि वे जब कार्यकी दिशामें पग उठाते थे, तो फिर पीछेकी ओर लौटना नहीं जानते थे। उनके प्रत्येक पगमें—उनकी प्रत्येकगतिमें सफलता निहित रहती थी। उनकी सूझबूझ निराली और उनका बुद्धि चातुर्य भी अनूठा था। वे अंधकारमें भी पथ

खोजनेकी कलामें सुदक्ष थे, उलझी हुई ग्रन्थियोंको सुलझानेमें उनका बुद्धि-चातुर्य देखते ही बनता था। जिस प्रकार उनमें बुद्धि-चातुर्य था, उसी प्रकार उनकी वाणी भी बड़ी अर्थ और प्रभावमयी थी। वे बहुत अधिक नहीं बोलते थे, पर जो कुछ बोलते थे, अर्थ और प्रभावपूर्ण बोलते थे। अपने पक्षके प्रतिपादनकी पटुता उनमें कूट-कूट कर भरी थी। उनकी अर्थ और प्रभावपूर्ण भाषा तथा शैली बड़े-बड़े तार्किकोंको भी निरुत्तर कर देती थी।

स्वर्गीय भार्गवजी लोकमान्य तिलक, गोखले, महामना मालवीय और राष्ट्रपिता गांधीजीके विचारोंसे अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने अपने जीवनको तिलकके त्याग, गोखलेकी कर्मठता, मालवीयजीके हिन्दुत्व और गांधीजीकी सचाई तथा ईमानदारीके साँचे में ढाला था। उनके प्रत्येक कार्यमें, प्रत्येक गतिपर उक्त महान् पुरुषोंके विचारोंकी प्रेरणा और प्रभावमयता होती थी। गांधीजीके विचारोंसे प्रभावित होनेके कारण ही उनके जीवन में एकान्तता और "सादा जीवन, उच्च विचार" का सामंजस्य था। वे अपने जीवनके अंतिम दिनोंमें, गांधीजीकी भाँति ही, बिरला मंदिर, मथुराके समीप सबसे पृथक् एक आश्रम बना कर रहते थे और सामाजिक कार्योंमें योग दिया करते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि समाजकी नैतिक, चारित्र्यिक और बौद्धिक उन्नतिसे ही देश स्वतः उन्नतिकी मंजिलपर पहुँच सकता है। भार्गवजी अपने इसी विश्वासको पूर्ण रूप देनेमें आजीवन लगे रहे। वे अपने इसी विश्वासके अनुसार कई सामाजिक संस्थाओंके पालन-पोषण तथा उन्हें विकासशील बनानेमें सदा रत रहे। उनके द्वारा संस्थापित संस्थाओंमें मथुराका महिला शिल्प विद्यालय, कल्याणसिंह उद्योग भवन, अमरनाथ आश्रम और किशोरीरमण कालेज आदि ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनके द्वारा समाज और देशके विकास तथा गतिमें श्रेयस्कर सहायता प्राप्त हो सकी है।

स्वर्गीय भार्गवजीने यों तो समाज और देशके विविध क्षेत्रोंमें प्रशंसनीय कार्य किए, पर शिक्षाके क्षेत्रमें उनके द्वारा जो योगदान हुआ, वह स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाने योग्य है। मथुरा नगर और जनपदमें, आधुनिक शिक्षाके प्रचार और प्रसारका श्रेय उन्हींको है। उन्होंने एक ओर तो शिक्षाका प्रचार किया और दूसरी ओर उच्च शिक्षाके द्वारा सुयोग्य नागरिक उत्पन्न करनेका प्रशंसनीय प्रयत्न भी किया। इसी दृष्टिसे उन्होंने शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना भी की। उन्होंने प्रारंभिक शिक्षाकी पूर्तिके लिए जहाँ प्राइमरी और मिडिल स्कूलोंकी स्थापना की, वहीं उन्होंने उच्च शिक्षाकी व्यवस्थाके लिए किशोरीरमण ऐसे महाविद्यालय की भी स्थापना की। स्त्री शिक्षाकी दिशामें भी उन्होंने स्तुत्य प्रयास किया। उन्होंने स्त्रियोंकी शिक्षाके लिए शिक्षण-संस्थाएँ तो स्थापित की हीं, उन्हें स्वावलबिनी बनानेके लिए कलाकौशल और उद्योग मन्दिर भी खोले। कहना ही होगा कि मथुरा नगर और जनपदमें आज जो शिक्षाका नया आलोक हँसता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी उत्पत्तिके लिए स्वर्गीय भार्गवजीने अटूट साधनाकी थी।

स्वर्गीय भार्गवजीके महत्वपूर्ण कार्योंकी शृङ्खला की एक और ऐसी कड़ी है, जिसने उनके जीवनको वस्तुतः युग-युगोंके लिए अमर बना दिया है। वह कड़ी है उनकी श्रीकृष्ण जन्मस्थानके प्रति अटूट सेवा-साधना। भार्गवजी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य पंथानुयायी थे। 'गीता' में उनकी दृढ़ आस्था थी। उन्होंने अपने जीवनको गीताके मूल उद्देश्य-फलाकांक्षासे रहित कर्मठताके साँचेमें ढाला था। अतः श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके प्रति उनकी अटूट आस्था थी। श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके पुनुरुद्धारसे लेकर उस समय तक, जब तक वे धरती पर रहे, बराबर अपनी स्तुत्य सेवाएँ श्रीकृष्ण जन्म-स्थानको देते रहे। वे श्रीकृष्ण जन्म-स्थान-सेवासंघके कर्मव्रती ट्रस्टी थे। श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान-सेवासंघके विधानका निर्माण उन्हींके बुद्धि-कौशलके योगसे हुआ है। कानूनके एक पंडितके रूपमें, वे बराबर उन विघ्न-बाधाओंको दूर करनेमें स्तुत्य योग देते रहे, जो विरोधियोंके द्वारा समय-समय पर खड़ी की गई थीं। इतना ही नहीं, सबसे बड़ी बात तो यह है कि श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानका कानूनी अधिकार भी, जो न्याय और धर्म पर आधारित था (अब भी है), उन्हींके बुद्धि कौशल और तर्क-पाण्डित्यसे प्राप्त हो सका। अतः कहना ही होगा कि श्रीकृष्ण-जन्म स्थानके इतिहासके पृष्ठोंमें उनके जीवनका अध्याय भी जुट गया है और जुट गया है सदा-सदाके लिए, युग-युगोंके लिए।

स्वर्गीय श्रीद्वारिकानाथ भार्गव जी का जन्म १८८६ ई० की पहली फरवरी को मथुरा में हुआ था। मथुरा में ही १९६३ ई० में २६ नवंबरको उनका गोलोक-वास भी हुआ। अपना ७७ वर्ष का लम्बा जीवन उन्होंने मथुरामें ही व्यतीत किया। वे मथुरा के एक सुप्रसिद्ध वकील थे। जीवनके क्षेत्रमें, वकालत ही उनका मुख्यधंधा था। एक वकील के रूपमें उन्होंने प्रचुर धनके साथ ही साथ यश भी प्राप्त किया। उन्होंने कभी भी धन एकत्र करने के लिए नहीं पैदा किया। वे जो कुछ पैदा करते थे, उसे सामाजिक और राष्ट्रीय कार्योंमें व्यय कर दिया करते थे। उनका कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत था। वकालत करते हुए वे बराबर सामाजिक और राष्ट्रीय कार्योंमें योग दिया करते थे। उन्होंने 'सेवा समिति' की स्थापना की थी। 'होमरूल लींग' के मंत्री के रूपमें भी उन्होंने कार्य किया था। प्लेग, महामारी, इन्फलूंजा और बाढ़ ऐसे विनाशकारी अवसरों पर उन्होंने जो सेवाएँ की, वे सदा स्मरणीय रहेंगी। मथुरा नगर पालिकाके सदस्य और संमानित अध्यक्षके रूपमें उनके द्वारा हुई सेवाओंको मथुरा निवासी कभी न भूलेंगे।

'नित्य निरन्तर सर्वात्मभावसे "श्रीकृष्णः शरणं मम" इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए स्थित रहना चाहिये।

'ओ मेरे अन्तःकरण! मेरी बात को सावधानीके साथ सुनो—श्रीकृष्णके सिवा दोषोंसे सर्वथा रहित वस्तु-तत्त्व अन्य कोई भी देवता नहीं है।

दो वक्तव्य

कुछ दिन पूर्व भारतीय लोकसभामें सुप्रसिद्ध मासिक पत्र "कल्याण" और जगद्गुरु शंकराचार्यको जिस प्रकार प्रश्नोत्तरका विषय बनाया गया, उससे धार्मिक जगत्को बड़ा आघात लगा। इस सम्बन्धमें हम कोई टिप्पणी न करके जगद्गुरु शंकराचार्य और कल्याणके सम्पादकके वक्तव्य प्रकाशित कर रहे हैं, जिनसे पाठकोंको अपने आप वास्तविकताका ज्ञान हो जायेगा।

सम्पादक

मेरे मतको तोड़मरोड़कर प्रकाशित किया गया

जगद्गुरु शंकराचार्य

गीताप्रेस गोरखपुरके मासिक पत्र "कल्याण" के १९६७ के अक्टूबर, नवम्बर अङ्कोंमें मेरे जो विचार प्रकाशित हुए हैं, वे पूर्णतया सनातन धर्मानुसार हैं, शास्त्रोक्त हैं। संसदमें संसोपाके एक सदस्य जार्ज फर्नान्डीजने उनको तोड़-मरोड़ करके प्रस्तुत किया है। उस पर गृहमन्त्री श्रीचह्वाणने जो टिप्पणी की है, वह दुर्भाग्यपूर्ण है। मैं स्पष्ट शब्दोंमें कहता हूँ कि मेरा वर्णाश्रम धर्ममें और जाति-प्रथामें पूर्ण विश्वास है। वर्णाश्रम धर्मके पालन किये बिना देशका कदापि कल्याण नहीं होगा, यह मेरा दृढ़ मत है। यह मत वेद-शास्त्रोंपर आधारित है। किन्तु इस संदर्भमें यह कहना कि मैं किसी भी जातिके प्रति घृणाका भाव रखता हूँ, अथवा घृणाका प्रचार करता हूँ, सर्वथा गलत है और नितान्त भ्रामक है।

"कल्याण' में छपा लेख एक सज्जन द्वारा लिये गये 'इन्टरव्यू' पर आधारित था और इसमें अन्त्यजों, हरिजनोंके प्रति कोई भी घृणाकी बात नहीं कही गयी है। अन्त्यज (हरिजन) हमारी हिन्दू जातिके उसी प्रकार अटूट अंग हैं, जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सवर्ण लोग हैं। वे हमारे सदा-सर्वदासे अपने हैं और रहेंगे। उन्हें हमसे कोई भी अलग नहीं कर सकता। अतः अन्त्यजोंके प्रति घृणा उत्पन्न करनेका प्रश्न ही नहीं उठता। मेरा दृढ़ मत है कि गोभक्षकोंके हाथका बना भोजन करना हिन्दू धर्मके सर्वथा विरुद्ध है। मैं हिन्दू राष्ट्र और हिन्दुत्वका प्रचार करता हूँ, इसलिये उससे बौखलाकर कुछ अहिन्दू मेरे अपने अन्त्यजोंको, हरिजनोंको हिन्दू समाजसे अलग करनेका षड़यन्त्र रचकर, मेरे विचारोंको तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्रचारसे हिन्दू जनताको सावधान रहना चाहिये। मैं गृहमन्त्री चह्वाणको चुनौती देता हूँ कि यदि सरकार मेरे विचारोंको अनुचित समझती है तो वह मुझे गिरफ्तार करके मेरे ऊपर मुकदमा चलाये। मैं जो कुछ भी बोलता हूँ, अपने धर्मके अनुसार बोलता हूँ, आचरण करता हूँ और लिखता हूँ। इसके लिये मुझे कारागार की यातनाएँ दी जायँ या फाँसी पर भी लटकाया जाय तो भी तनिक चिन्ता नहीं है। मैं उसके लिये सहर्ष तैयार हूँ। गोभक्षकोंके हाथका खाना पीना धर्म और शास्त्रोंके सर्वथा विरुद्ध है, मुझे ऐसा कहनेसे कोई भी नहीं रोक सकता। मैं धर्माचार्य हूँ, इसलिये मुझे अपने धर्मकी बात खुलकर कहनेका पूर्ण अधिकार है। इसके लिये मुझे किसी भी कांग्रेसी मंत्रीसे सलाह लेनेकी और पूछनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। प्रजातन्त्रमें विचार-स्वातन्त्र्य है तथा मुझे धर्माचार्य होनेके नाते शास्त्रानुसार जीवन-यापन करनेका और प्रचार करनेका जन्मजात अधिकार प्राप्त है। इसपर रोक लगाना मौलिक अधिकारोंका हनन करना है। श्री चह्वाणने कहा है कि मैं शंकराचार्य पदके योग्य नहीं हूँ। किन्तु मैं इस पदके योग्य हूँ या नहीं, इसके निर्णयका अधिकार उन्हें नहीं है। इसका अधिकार केवल तीनों मठोंके जगद्गुरु शंकराचार्योंको और सनातनधर्मके विद्वानोंको ही है। अतः किसी अल्पकालिक नेताको मेरी योग्यताके सम्बन्धमें वक्तव्य देनेका अधिकार नहीं है।

सनातन धर्मपर अनुचित आक्षेप

'कल्याण' के सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

गत दिनांक ६ दिसम्बरको लोक-सभा, नयी दिल्लीमें अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजीके गत वर्ष 'कल्याण' में प्रकाशित लेखके सम्बन्धमें चर्चा हुई है। इसके सम्बन्धमें यह निवेदन है कि 'कल्याण' कट्टर सनातन धर्मी तथा शास्त्र-विश्वासी पत्र होनेपर भी उसकी नीति सदासे ही उदार है। वह किसी भी धर्म-सम्प्रदायका कभी अपमान नहीं करता और न किसीको नीच मानता है। बल्कि 'कल्याण' में ईसाई,

इस्लाम, पारसी धर्मसम्बन्धी लेख छपते रहते हैं और इसके सम्मान्य लेखकोंमें तथा पाठकों में भी ईसाई-मुसलमान-पारसी—सभी धर्मोंके विद्वान् महानुभाव हैं। हिन्दू धर्मके "समस्त विश्व चराचरमें व्याप्त एक भगवान् या एक आत्माके सर्वहितकारी" सिद्धान्तके अनुसार वह सबका हित-सम्पादन करता हुआ सभीको पारमार्थिक पथका प्रदर्शन कराता है। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके उक्त लेखमें भी ऐसी कोई बात नहीं मालूम होती, जिसमें किसीको नीचा माना गया हो। उक्त लेखको भलीभाँति पढ़कर समझना चाहिये। हमारा तो यह अनुमान है कि लोक-सभामें चर्चा चलानेवाले महानुभावोंने एवं सम्मान्य श्रीचह्वाण महोदयने भी उस लेखको भलीभाँति पढ़ने तथा समझनेका कष्ट नहीं उठाया है। लेखके भावको ठीक समझनेपर कोई ऐसा अर्थ नहीं निकाल सकता। दुर्भाग्य तथा दुःखकी बात है कि बुद्धिमान् विद्वान् तथा दायित्वज्ञान-सम्पन्न मनीषी तथा इतने दायित्वपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होते हुए भी सम्मान्य श्रीचह्वाण महोदयने लेखके भावोंको जिनशब्दोंमें व्यक्त किया है और श्रीशंकराचार्यजी के प्रति जो उद्गार प्रकट किये हैं, (यदि समाचार-पत्रोंमें छपे समाचार सत्य हैं तो) वे सर्वथा अशोभनीय हैं और उनके योग्य कदापि नहीं हैं। एक धर्म-निरपेक्ष सरकारके इतने उच्चपदस्थ महानुभावके लिये इस प्रकार हिन्दू सनातनधर्म तथा उसके आचार्यके प्रति अनुचित आक्षेप करनेका न अधिकार है, न किसी प्रकार औचित्य ही। इस स्थितिमें हम श्रीचह्वाण महोदयसे सादर विनम्र निवेदन करते हैं कि वे कृपापूर्वक एक बार शान्त हृदयसे उक्त लेखको पढ़ें और गहराईसे समझें। उसमें शास्त्रसम्मत प्रकट करनेके अतिरिक्त किसी धर्म-सम्प्रदाय-जाति तथा उसके अनुयायियोंके प्रति कोई भी आक्षेपजनक बात नहीं है। यह बात ठीक समझमें आजाय तो श्रीचह्वाण महोदयको अपने उद्गारोंके लिये सत्यके नाते अवश्य पश्चाताप होना चाहिये।

जगद्गुरु शंकरार्य श्रीशारदापीठाधीश्वर, द्वारकाने राष्ट्रपति प्रभृति महानुभावोंके नाम निम्नलिखित तार भेजा है, सो उन्होंने उचित ही किया है। यदि हिन्दू सनातनधर्मी इस चीजको अनुचित समझते हों तो दृढ़ताके साथ पर विनम्र भाषामें इसके प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करनेके लिये स्थान-स्थानसे श्रीराष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, उप-प्रधान मन्त्री, गृह-मंत्री और अध्यक्ष लोक-सभा आदिके नाम नयी दिल्ली तार-पत्र भेजने चाहिये और सबकी बुद्धि शुद्ध करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये।

श्रीजगद्गुरुजी द्वारा दिये गये अंग्रेजी तारका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

'संसद्में पुरीके शंकराचार्यके विरुद्ध केन्द्रीय गृहमन्त्रीका वक्तव्य अत्यन्त आपत्तिजनक एवं हिन्दुओंके धर्माचार्योंकी मर्यादाको जान-बूझकर ठुकरानेवाला तथा हिन्दू-धर्म और हिन्दुओंके धार्मिक आचार-पद्धतिपर हस्तक्षेप करनेवाला है जबकि तथाकथित धर्म-निरपेक्ष शासनको अन्य अल्पसंख्यक जातियोंकी हलचलोंके प्रति एक शब्द भी बोलनेका साहस नहीं है। अतएव चालीस करोड़ हिन्दुओंकी ओरसे हम समाचारोंमें प्रकाशित इस वक्तव्यका घोर विरोध करते हैं तथा इसके वापस लिये जानेकी माँग करते हैं।'

—जगद्गुरु शंकराचार्य शारदापीठ, द्वारका

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान—मासिक गति-प्रगति

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान अपने भीतर एक महान् पुण्यकथा छिपाए हुए है। जब हम इस स्थानको देखकर यह सोच उठते हैं कि यही वह पावन स्थान है, जहां योग योगेश्वर, परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णने सर्वप्रथम मनुज रूपमें अपना चरण धरतीपर रक्खा था, तो हमारे हृदयमें अपने आपही कितनेही भावलोकोंकी सृष्टि हो जाती है और मनमें अभिलाषा जागृत हो उठती है कि इस धरतीकी रजमें खूब लोटूँ—एक कविके शब्दोंमें अपनी मानवी प्यासको शांत करूं—

"वे चरण नहीं तो, उन चरणोंसे झरी धूलि गंगामें रोज नहाऊं।"

कितने ही श्रद्धालु नर नारी प्रतिदिन आते हैं श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर अपनी प्यास बुझानेकेलिए, उन पवित्र चरणोंसे अपने प्राणोंका संबन्ध जोड़नेकेलिए। उन नरनारियोंमें केवल भारतीय ही नहीं होते, वे विदेशी भी होते हैं,जिनके प्राण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें गीताके स्वरोंसे स्पन्दित रहा करते हैं। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान अपने इन श्रद्धालुओंकी श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे इस धरतीपर श्रद्धाका एक स्वर्गलोक बनता जा रहा है।

सम्माननीय श्रीवसंतकुमार बिरला और श्रीमती सरलादेवी बिरलाका शुभागमन

बिरला परिवारका श्रीकृष्ण-जन्मस्थानसे अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर जो नवनिर्माण होरहा है, उसके मूलमें बिरला परिवारकी ही तपः पूत निष्ठा है। स्वर्गीय स्वनाम धन्य श्रीजुगुलकिशोरजी बिरलाकी ही निष्ठाका यह परिणाम है कि आज श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पुनः प्राप्त हो सका है और उसकी भूमिपर नये सिरेसे भव्य-निर्माण हो रहा है। दिनोंदिन श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका सुयश अपने नामके अनुरूप फैलता जा रहा है। देशी-विदेशी जो भी श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर दर्शनार्थ आता है, वह उसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आकर्षणसे विमुग्ध हुए बिना नहीं रहता। विगत १९-१२-६८ को सम्माननीय श्री वसंतकुमार बिरला और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सरलादेवी बिरलाका शुभागमन श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर हुआ। बिरला दम्पति जन्मस्थानके 'बालविग्रह'का दर्शन करके आनन्द-विभोर हो उठे। उन्होंने बड़ी रुचिसे गर्भगृह और बनते हुए श्रीमद्भागवत

भवनको देखा। उन्होंने आशा और शुभकामना प्रगटकी कि श्रीमद्‌भागवत भवन शीघ्र ही बनकर तैयार होगा और भारतीय संस्कृति तथा धर्मका केन्द्र बनेगा।

मास्को विश्वविद्यालयकी प्राध्यापिकाका आकर्षण

विगत २३-१२-६८को मास्को विश्वविद्यालयकी प्राध्यापिका श्रीमती न० म० साजानोवाका शुभागमन श्रीकृष्ण जन्मस्थानपर हुआ। वे इस समय रशियन भाषामें 'सूर-सागर'के अनुवादका कार्य कर रही हैं। श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके 'बालविग्रह'को देखकर वे पुलकित हो उठीं। उन्होंने श्रीकृष्ण-सन्देशके सम्पादक श्रीव्यथितहृदयजीसे बालविग्रहकी प्रशंसा करते हुए कहा कि 'बालविग्रह'को देखकर मेरे भीतरका वात्सल्यरस उमड़ पड़ा है और मुझे ऐसा लगता है कि मैं बहुत पूर्व यहाँ आ चुकी हूँ।

श्रीमती साजानोवाने बड़ी ही भाव-विभोरताके साथ दर्शक-पंजिकापर निम्नांकित शब्दोंके साथ अपना हस्ताक्षर बनाया—

"श्रीकृष्णका जन्मस्थान देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।"

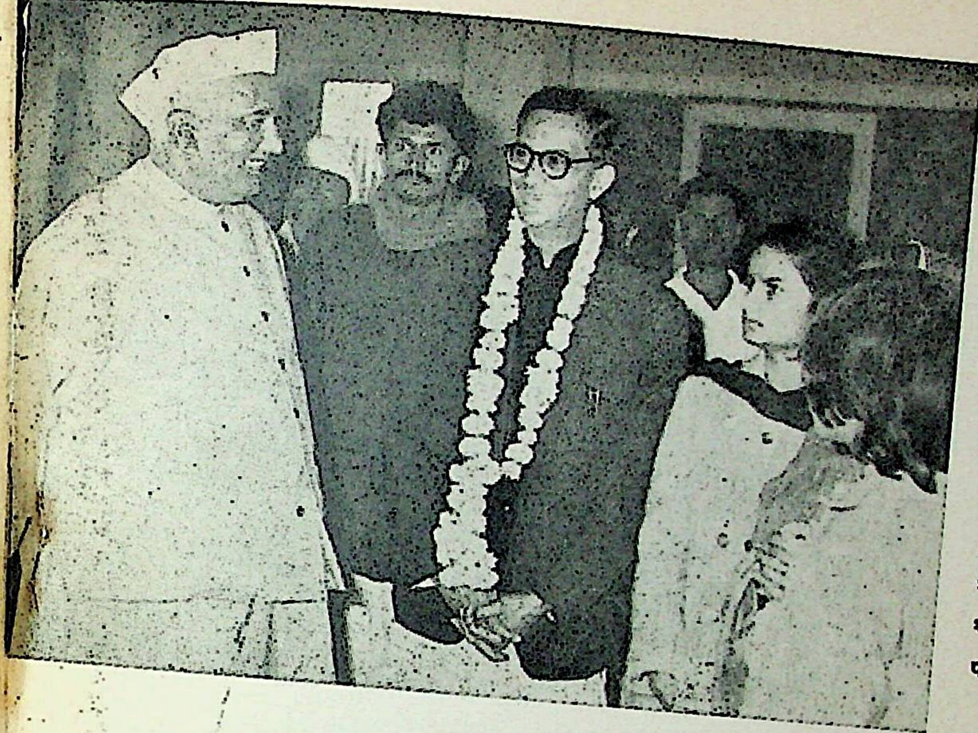
कुछ और विशिष्ट यात्री

दिसम्बर मासमें कुछ और विशिष्ट यात्रियोंका शुभागमन हुआ, जिनमें स्विटजर लैण्ड और जर्मनीके यात्रियोंके अतिरिक्त असम प्रदेशके मंत्री माननीय श्रीलक्ष्मीप्रसाद गोस्वामीका नाम उल्लेखनीय है। स्विटजरलैण्ड और जर्मनीके यात्रियोंने बड़ी रुचिसे श्रीकृष्ण-जन्मस्थानको देखा और अपने मनके आह्लादको दर्शक-पञ्जिकापर प्रगट किया।

माननीय गोस्वामीजी अपनी धर्मपत्नीके साथ 'बालविग्रह'का दर्शन करके आनन्द में डूबसे गए। उन्होंने 'श्रीकृष्ण-सन्देश'को देखकर अत्यधिक हर्ष प्रकट किया और असम-प्रदेशमें उसके प्रचार-प्रसारका वचन देकर प्रोत्साहित किया।

श्रीमद्भागवत भवन

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर निर्मित होता हुआ श्रीमद्‌भागवत भवन श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर आकर्षणकी मुख्य वस्तु है। देशी-विदेशी जो भी यात्री आता है,उसकी दृष्टि श्रीमद्भागवत-भवनपर पड़े बिना नहीं रहती। श्रीमद्‌भागवत-भवनके आदर्श-चित्र (माडल को देखकर तो वह विमुग्ध और विस्मयान्वित हुए बिना नहीं रहता। श्रीमद्‌भागवत-भवन बड़ी तीव्रतासे पूर्णताकी ओर बढ़ता जा रहा है। प्रतिदिन कई सौ श्रमिक उसके निर्माणमें संलग्न रहते हैं। दिन-प्रतिदिन भागवत-भवनकी भीतियाँ, उसकी छतें, और उसके कक्ष एकरूप धारण करते जा रहे हैं। वह दिन दूर नहीं, जब श्रीमद्भागवत-भवन अपने वास्तविक स्वरूपमें बनकर तैयार हो जायगा और संपूर्ण जगत्के आकर्षणका केन्द्र बनेगा।



श्रीबिरला द्वारा दृश्यावलोकन

सेवासंघके संयुक्तमन्त्री श्रीदेवधरजी शर्मा श्रीबिरलाजीको श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका परिचय दे रहे हैं।



श्रीवसन्त कुमारजी बिरला श्रीकृष्ण-जन्मस्थानकी दर्शक-पंजिकामें अपनी श्रद्धाञ्जलि अंकित करते हुए।

पंजीयत सं० एल-८२७

* कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् *

'श्रीकृष्ण-सन्देश'

के

ग्राहक

बनिए और बनाइए;

क्योंकि—

- ★ यह श्रीकृष्ण-प्रेमी जनताका अपना पत्र है,
- ★ श्रीकृष्णकी दिव्य लीला-गुण-कर्म एवं वाणीसे अभिप्रेरित है,
- ★ निष्पक्ष एवं प्रामाणिक पाठ्य-सामग्रीसे भरपूर है,
- ★ नैतिक बल, पवित्राचरण एवं स्वधर्म-निष्ठाको बढ़ानेवाला है।

यदि आप—

- ★ लेखक हैं तो प्रेरणादायक लेख भेजकर
- ★ कवि हैं, तो निष्ठा-वर्द्धक कवितायें लिखकर
- ★ अधिकारी या सेवक हैं, तो अपना सहयोग देकर
- ★ उद्योगपति या व्यापारी हैं, तो अपने संस्थानोंके विज्ञापन देकर

श्रीकृष्ण-सन्देशकी सफलता आपके सहयोगपर निर्भर है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके लिये देवधर शर्मा द्वारा मथुरा प्रिंटिंग प्रेस, मथुरामें मुद्रित तथा प्रकाशित। आवरण मुद्रक : राधाप्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१